

सहजानंद शास्त्रमाला  
अध्यात्मसहस्री प्रवचन  
षष्ठम् भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री  
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'अध्यात्मसहस्री प्रवचन षष्ठम् भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर, इन्दौर का सहयोग रहा है – हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto:Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।  
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।  
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।  
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥  
अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊँ उतरूँ रम लूँ निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

## अध्यात्मसहस्री प्रवचन षष्ठम् भाग

(प्रवक्ता- अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज)

अनियत भाव से हटकर नियत सहज स्वभाव में आने का ज्ञानी का उद्यम— कौनसा भाव दृष्टि में लेने योग्य है और कौनसा भाव दृष्टि से हटाने योग्य है? इसकी ध्वनि एक इस कलश में प्राप्त होती है- चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्। अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी। चैतन्य शक्ति करके व्याप्त है सर्वस्वसार जिसका ऐसा यह जीव इतना ही है। सर्व विशुद्ध भावों से जीव के स्वरूप का निरखने वाला ज्ञानी अंतस्तत्त्व का रुचिया संत निरख रहा है कि जीव तो इतना है, यह है। जो चैतन्यशक्ति करके व्याप्त सर्वस्वसार वाला है इसका सार कितना? बस यह चैतन्यशक्ति, चिद्रूप। इसका ही वास्तविक सहारा है, यही इसका सर्वस्व है और इससे अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सभी पौद्गलिक हैं। यहाँ इस तरह की तैयारी है कि जैसे कूड़ा कचरा को हटाकर एक स्वच्छ भूमि में आराम करने की कोई तैयारी कर रहा हो। जो भाव गुजरते हैं, बीतते हैं, जिनसे क्लेश, क्षोभ हो रहे हैं वे सब मल हैं, उनसे हटकर और एक स्वच्छ चैतन्यशक्ति में आना है। उसकी तैयारी में कहा गया है कि जीव तो एतावन्मात्र है जो चैतन्यशक्ति से व्याप्त है और इसके अतिरिक्त सब भाव पौद्गलिक हैं। पौद्गलिक हैं— इसका अर्थ क्या? पुद्गल उपादान वाला है, क्या यह अर्थ है? किन्हीं बातों में वर्णादिक भावों में, यह भी अर्थ है और भावों में विभावों में यह अर्थ है कि पुद्गल का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए भाव हैं। अनियत भाव से हटकर नियतभाव में आने की तैयारी है। वह तैयारी भी भावरूप से है, निज सहजचैतन्यभाव स्वभाव है और चैतन्यशक्ति से अतिरिक्त भाव है। राग, द्वेष, मोह, वितर्क, विचार, छुटपुट ज्ञान, नैमित्तिक ज्ञान, ये सब भाव इससे पृथक् हैं और ये सब पौद्गलिक कहे गए हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सब पुद्गल की परिणतियाँ हैं, किन्तु पुद्गल का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए भाव हैं अतएव पौद्गलिक हैं। ये स्वरूप में नियत नहीं हैं, इसकी प्रतिष्ठा स्वयं में नहीं है, अतएव ये अनियत हैं, पौद्गलिक हैं, औपाधिक हैं, यह परख परभाव से हटकर स्वभाव में पहुँचने के लिए हुए हैं।

विभाव परिणाम की उपपत्ति का निर्णय— अब जिस माध्यम से ज्ञानी ने विभाव से उपेक्षित होकर स्वभाव में लगने की तैयारी की है वहाँ उसने पहिले कुछ निर्णय तो किया होगा, जिसके बाद अब यह

साधना में चल रहा है। निर्णय है कि ये सर्वभाव पौद्गलिक हैं, स्वयं के स्वभाव में स्वयं के सत्त्व में ही मात्र सहज ही उत्पन्न नहीं हुए। यद्यपि यह भी निश्चित बात है कि जिस किसी भी प्रकार कारण कार्य विधानपूर्वक जो भी हुआ है, होगा, वह ज्ञानी द्वारा ज्ञात है इस कारण या मानो अब से 24 घंटे बाद इसी समय याने विवक्षित समय प्रत्येक द्रव्य का कुछ तो होगा ना। जो कुछ होगा वह उस समय होगा, यों निश्चित है, लेकिन जितनी भी विभाव की बातें हैं, औपाधिक भाव हैं वे नियत नहीं है। होंगे उसी समय, परन्तु स्वभाव में नियत नहीं हैं, उपाधि का निमित्त पाकर हुए हैं। यों तो सारा जगत् जितना भी विभाव में चल रहा है यों ही कारण कार्य विधानपूर्वक चल रहा है।

**स्वभाव व परभाव की निरख से उपलब्ध शिक्षा—** अब जो हो रहा है, होना है, हम उसमें समझे क्या? उसमें शिक्षा लेना है हमें, अनियत भाव को छोड़ना है और नियत स्व सहज भाव पर अपनी दृष्टि लाना है। यह मैं जीव इतना ही मात्र हूँ जो चैतन्य शक्तिकर व्याप्त है। यही सार है, यही हमारा शरण है, इसका ही वास्तविक सहारा है, अन्य द्रव्य के सम्पर्क में मेरा गुजारा नहीं चलने का। अरे इस जगत् में किसको कहें कि मेरा है, किसको कहें कि शरण है? जब मेरे ही परिणमन में आने वाले रागादिक भाव भी मेरे को शरण नहीं हैं, मेरी बरबादी के ही हेतु हैं और ये बेचारे विकार खुद भी अशरण हैं, समय बीता और इनको मिटना पड़ता है। मैं किसका सहारा ढूँढ़ूँ? यह शरीर, ऐसे-ऐसे अनन्त शरीर पाये और जिन शरीरों में मैं इतना घुलमिलकर रहा, एक क्षेत्रावगाही होकर रहा, उपयोग से भी घुल मिलकर रहा, इतना घुलामिला शरीर भी जब मेरा शरण न हुआ, मेरा साथी बनकर न रहा, यह भी धोखा दे देता है, तो अब मैं बाह्य में अन्यत्र शरण कहाँ ढूँढ़ूँ? किसी भी परपदार्थ के प्रसंग में, किसी भी परद्रव्य के प्रसंग में मेरा गुजारा न हो सकेगा। मेरे को शरण मेरा सहारा यही एक चैतन्यस्वरूप है।

**परभाव से हटकर स्वतत्त्व में आने का दृढ़ कदम—** यहाँ भाव में स्वतत्त्व को जमाना है और अन्य भावों की उपेक्षा करनी है। इस ही पद्धति से जितनी हमारी प्रगति होगी बस वही हमारा ठीक पौरुष है, सही व्यवसाय है, हम ठीक कर्तव्यपथ पर जा रहे हैं इसके लिए बस भेदविज्ञान और अभेदज्ञान, भेदविज्ञान के नीचे रहने वाले अभेदज्ञान की बात नहीं कह रहे, किन्तु भेदविज्ञान से उठकर ऊपर के अभेदज्ञान की बात कह रहे हैं। भेदविज्ञान, मैं इतना हूँ यह चैतन्यशक्ति मात्र मैं सबसे निराला हूँ, सबसे न्यारा हूँ, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमें ही है, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सब कुछ मुझ में ही है। और पर का आश्रय पाकर पर का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो अपने में विभाव हैं उनसे भी मैं निराला हूँ, क्योंकि ये मेरे में नियत नहीं हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं, इनकी मुझमें प्रतिष्ठा नहीं है, ये औपाधिक हैं। संतों ने निश्चयनय की पद्धति में यह भी आशय अपनाया है कि निरखना है केवल अपने आपको विशुद्ध चैतन्यस्वरूप और उस चैतन्यस्वरूप के दर्शन में यह आशय मदद करता है कि ये रागादिक भाव पौद्गलिक हैं, औपाधिक हैं अनेक स्थलों पर वर्णन किया।

भाव उनका यह था कि उपाधि से होने वाले भाव अर्थात् उपाधि का निमित्तमात्र पाकर होने वाले भाव उपाधि के साथ जुड़ो। मेरे साथ मत जुड़ो। जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक है वह उसकी चीज है वह हमें न चाहिए, इसे मुझे नहीं अपनाना है। मैं तो एक आधारमात्र रहा, जैसे सिनेमा के सफेद पर्दे पर चित्र आता है तो वहाँ मशीन से, वहाँ की फोटो से जो कुछ हो रहा है उसका निमित्त पाकर वहाँ पर्दे पर चित्रण हो रहा है, वह चित्रण पर्दे का नहीं है, पर्दा साफ है, उसके ऊपर ही वह सब चित्रण लोट रहा है। उस मशीन के बंद होने पर वह बंद होता है, चलने पर चलता है, आदिक बातें देखकर यह चित्र उसके साथ जावे, उससे सम्बंधित हो यह चित्रण उस पर्दे का नहीं है। पर्दा तो भूमिमात्र है। यह मैं आधारमात्र हूँ और जो कुछ होता है यह भाव औपाधिक है। कितना उसका साहस, उसका उद्यम है कि वह सब विभावों को फेंककर उनसे विभक्त निज अंतस्तत्त्व में रमना चाह रहा है।

**सहजपरमात्मतत्त्व के मिलन का माङ्गल्य—** यहाँ कैसी दृष्टि की? विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि। यह दृष्टि दिखती क्या है? जिस किसी भी प्रकार निरखो मेरा सहजस्वरूप मेरे उपयोग में विराजे। यह उपयोग जब इन सब विभावों से हटकर, इन अनियत भावों से उपेक्षा करके जब यह नियत स्वभाव में जाता है, चलता है तो जिस किसी भी क्षण कुछ थोड़ा बहुत मिलापसा होता है, पर ऐसे ही संस्कारवश अशक्ति है कि उससे दिल भर मिलन नहीं हो पाता। मानो दृष्टि के आगे हम आये और उपयोग सा बन जाता है कि उस सहज परमात्मतत्त्व का थोड़ा बहुत स्पर्श-सा हो पाया उपयोग द्वारा कि उपयोग हटने लगता है। उपयोग बहुत बड़ी उत्सुकता से इस सहजपरमात्मतत्त्व के मिलन के लिए चला है, कुछ दर्शन हुए है, कुछ निकटपना आया है, किन्तु कुछ बाधा-सी जब दिखती है तो उपयोग कह उठता है कि हे भगवन, हे प्रभु सहज परमात्मतत्त्व, कहाँ भागते हो? जरा रुक जावो। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। तब फिर मानो वहाँ से उत्तर मिलता है कि मैं कहाँ जा रहा हूँ जो रुकने का प्रश्न आये, मैं तो अवस्थित हूँ, वहीं हूँ, वहीं हूँ, प्रकाशमान हूँ। तुम ही अपना कदम पीछे हटा रहे हो। क्या हट रहा? कुछ अन्य नहीं, कोई दिशा का फेर नहीं, किन्तु उसही बिन्दु पर रहता हुआ यह उपयोग सम्मुख भी कहलाने लगता और विमुख भी। ऐसी इसके अन्तःपरिणति की ही बात है। उपयोग बराबर चाहता है कि सहज परमात्मतत्त्व में ही मैं बसूँ। किन्तु इस धुन में कभी हैरान होता है, कभी सोचने लगता है कि ऐसा क्या हो रहा है। मैं भी चाह रहा हूँ, यह सहजपरमात्मतत्त्व भी इसीलिए है कि खूब रहे, खूब रमे, इसमें तो उसकी स्पष्ट विशदता भी आ जाती है। दोनों ओर से मानो मनसा मिल रहा है और भी मिलन नहीं हो पाता। यह उपयोग कह रहा, नाथ ! मैं कुछ भी प्रमाद नहीं करना चाहता, नहीं कर रहा। पर हो रही क्या बात है? इस मिलन के प्रसंग में कुछ दो क्षण ही तो और चाहिए थे कि इस बीच गुप्त ही गुप्त ढंग में विकार बैरी ऐसी बरबादी करते हैं, बाधा डालते हैं, बड़ी हैरानी की बात है।

**सहजपरमात्मतत्त्व की उपासना के पौरुष का अभाव—** यह बात सुनिश्चित है कि जो सहज परमात्मतत्त्व की उपासना करेगा, उपासना के लिए दृढ़ संकल्प होगा जिसको बाहर में फिर कुछ भी न सुहायेगा, वह अपने इस उद्देश्य में सफल होकर रहेगा। यह तो एक ऐसा निष्पक्ष तत्त्व है, ऐसा स्पष्ट है कि यदि कोई पुरुष सर्वप्रकार का पक्ष विकल्प त्यागकर मैं ज्ञानरूप हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, सो तथ्यता का जो उत्तर होगा, उसकी समस्या का जो कुछ समाधान होगा वह मूल में मुझे ठीक ही मिलेगा, मगर हमें किसी की बात को, किसी के समझावन को, किसी के संग को, किसी प्रसंग को, इनको स्थान न देकर केवल इस ज्ञानमय अंतस्तत्त्व से ही समाधान चाहूँगा, ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिये। ऐसा सोचकर यदि अपने अन्तःकरण को इतना विशुद्ध रख लेते हैं कि किसी विकल्प की गुञ्जाइश नहीं, कोई दूसरा भाव भी इसमें आये नहीं, किसी बात की चिन्ता नहीं, रंज नहीं, अन्तः इसका उपयोग रहे तो स्वयं ही एक ऐसे ज्ञान का प्रकाश होगा और समझ लेंगे कि मेरा सार शरण सर्वस्व आनन्द कल्याण सब कुछ यह है। मैं कितना वैभववान हूँ? मैं के मायने जीवमात्र सभी। स्वयं में कितनी निधि पडी है, क्या वैभव है, कितनी स्वच्छता है, कितनी उत्कृष्टता है जो कि हमें अन्यत्र न मिलेगी। लेकिन अपनी निधि की अपनी विभूति की जब हम कोई कीमत नहीं रख रहे, जब हम कोई उत्कंठा नहीं कर रहे, उसका महत्त्व नहीं समझ रहे तो उसका परिणाम यह है कि उपयोग को बाहर घुमा-घुमाकर, लगाव बाहर में लगा लगाकर दुःखी हो रहे हैं, आशा करके भिखारी बन रहे हैं। हम अपने ज्ञानधन को यदि न खोते तो यह स्थिति कहाँ से आती? निरखना है अपने आपमें बसे हुए उस सहज परमात्मतत्त्व को।

**निज में सहजपरमात्मतत्त्व का दर्शन—** देखिये जो बात एक बार रूढ़ि में आ जाती है, समझना चाहिये कि उसका कुछ न कुछ रहस्य था कभी, लेकिन आज भूल गए, पर किसी समय कोई रहस्य की बात थी। लोग कहते हैं कि प्रभु घट-घट में विराज रहे हैं, अब यह रूढ़ि की बात आ गयी। और यों निरखने लगे जैसे कि हम किसी व्यक्ति को देखते हैं। हमारी आदत व्यक्तित्व की दृष्टि की है कि हर जगह पडी हुई है, किसी बात को देखो तो उसमें व्यक्तित्व की बात बसी रहती है। कोई एक प्रभु, व्यक्ति जो कि राजा से भी बढ़कर है। राजाओं से भी बढ़कर, सबका राजा, सारी दुनिया का अधिपति कोई एक प्रभु है वह सबके घट-घट में विराज रहा है, यों रूढ़ि हो गयी, लेकिन तत्त्व क्या था? एक कोई व्यक्ति हो, घट-घट में विराजे तो इसमें भी बाधा है, श्रम है, अनेक बातें हैं, लेकिन घट-घट में स्वयं अन्तः प्रभु है और वह स्वयं शाश्वत अनादि अनन्त विराजमान है, इसको देखने की दिशा न मिली, सो इस रहस्य को भूल गए। दूध के कण-कण में घी व्याप्त हो रहा है यह सुनकर कोई सोचे ऐसा घी होता है, वह घी इसके कण-कण में हैं यों निरखने से उसका मर्म न जाना जायगा, किन्तु दूध के कण-कण में स्वयं ही जबसे दूध है तब से उसमें घृत है। उसके समझने की विधि यह नहीं है कि जैसे बाहर से घी लाये और 5 सेर दूध में मिला दें तो जैसे वह व्याप्त हो



गया घी, इस निगाह से दूध में सहज घी देखें तो न दिख सकेगा, न ज्ञात होगा, न बात बनेगी, किन्तु सहज ही जब से दुग्ध है, जब से सत्त्व है तब से ही उसमें वह तत्त्व पड़ा हुआ है। अब उसके प्रकट होने की विधि है। उसको बिलो करके या दही बनाकर बिलोयें या ऐसे ही तपायें, कई विधियों से घी प्रकट हो जाता है, पर उन सब विधियों में प्रतपन है याने रगड़ है। किसी भी विधि से घी कोई प्रकट करे, खोवा बनाकर करे अथवा मशीन में सीधा दूध डालकर करे, पर रगड़ बिना कुछ न होगा, इसी तरह अपने चैतन्यस्वरूप में प्रतपन हुए बिना हम उसका दर्शन नहीं कर सकते हैं, उसका प्रकाश नहीं पा सकते। इसके लिए हमें सर्वस्व न्यौछावर करना पड़े, सर्वस्व न्यौछावर के मायने बाह्य बात, सब न्यौछावर करना पड़े और यह स्वतत्त्व अगर कर लिया तो समझना चाहिए कि सस्ते में ही प्राप्त किया। यह तन जो कि मिटने वाला है अगर इसके न्यौछावर होने से जीव को वह सहज दृष्टि प्राप्त होती है तो क्या गया? पाया ही है इसने अपूर्व लाभ। और न्यौछावर करना क्या है? जो परिणति, विभाव, विचार, विकल्प, पक्ष, आकर्षण आदिक जितने जो कुछ ये अतिरिक्त भाव हैं, बस इन अतिरिक्त भावों को छोड़ना है, इन अतिरिक्त भावों को छोड़ना है। जानना है कि इन सबसे निराला मैं विशुद्ध सहज चैतन्यशक्ति मात्र हूँ।

**मुमुक्षु का अन्तः पौरुषविक्रम—** कैसी वीरता के साथ कहा गया है यह कि यह मैं तो चैतन्यशक्तिकर व्याप्त है सर्वस्वसार जिसका, यह मैं इतना ही हूँ और इसके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सब पौद्गलिक हैं। उनका नाम ही न रखें लगाव ही न रखें, ऐसी तैयारी के साथ अंतस्तत्त्व का रुचिया ज्ञानी संत बाहर के कूड़े को फेंककर, विभावों को हटाकर और अपने आपके उस सहजस्वरूप का सर्वस्व में प्रवेश करता है। ऐसा उपयोग जिसका बनता है, ये बाह्य कर्म, वे असंख्याते भवों के उपार्जित किए हुए कर्म क्षणमात्र में खिरते हैं। जो बात कह गई है कि 'ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैते।' क्षणभर में असंख्याते भवों के बांधे हुए कर्म खिर जायें, उसका हेतु है यह विशुद्धता इस विशुद्ध आनन्दस्वरूप का अनुभव। अब किसी प्रकार की चिकनाई, गीलाव, लगाव ही न रहा तो फिर ये कर्म रहेंगे कहाँ से? जैसे गीली धोती सूखने को डाल दी और वह गीली धोती नीचे गिर जाय, उसमें धूल लग जाय, तो विवेकी पुरुष उस समय क्या करता है कि बिना झिटके पटके उसे धूप में सूखने के लिए डाल देता है, धोती के सूख जाने पर जब उसे झिटक दिया जायेगा तो सारी धूल खिर जायेगी। क्यों खिर जायेगी उस धोती में अब गीलाई, चिकनाई, लगाव कुछ नहीं रहा, इसी प्रकार इन कर्मों के लिए जब आर्द्रता, स्निग्धता, लगाव न रहेगा तो फिर ये कर्म ठहरेंगे कहाँ? इसके लिए हमें यत्न क्या करना है? बस यही एकमात्र। देखिये- काम कितना होगा और हमें करना क्या है? करनी हमें एक बात है। और बातें बनेंगी अनेक काम बनेंगे अनेक। वहाँ भी काम अनेक नहीं बनते, पर अनेक झंझट थे, इसलिए जितने झंझट थे उन झंझटों से छुटकारे के नाम भी उतने ही कहे जाते हैं। काम एक है- कैवल्यप्राप्ति। दृष्टि एक- कैवल्य दृष्टि। अब एतदर्थ, जीव पर झंझट पहिले से ही बहुत हैं तो उनकी निवृत्ति के

लिए जो यत्न होंगे वे अनेक यत्न कहलायेंगे, पर ज्ञानी का यत्न तो वहाँ एक है, प्रयोजन एक है, सिद्धि एक है, ऐसे अपने आपके सहजस्वरूप में अपने अंतस्तत्त्व को देखना, बस यही एक काम रह गया जो न किया होगा? इसे करने के लिए यही मात्र काम है, बाकी अन्य अन्य सब बातें तो यों ही निरखें कि ये सब बाह्य हैं, इनसे मेरा हित नहीं, ये मेरे शरण नहीं, मेरा शरण तो मेरा यह चैतन्यस्वरूप है।

**अशान्ति के उपायों में मोही का शान्ति लाभ का स्वप्न—** सभी जीवों को सुख शान्ति प्राप्त करने की भावना रहती है। कितने भी कोई प्रयत्न कर रहे हों, उनके प्रयत्न करने का उद्देश्य शान्ति लाभ है। यद्यपि जितने प्रयत्न किये जाते हैं यहाँ वे सब अशान्ति के लिए हो रहे हैं, किन्तु अशान्ति का प्रयोजन रखकर प्रयत्न कोई नहीं करता, तो शान्ति प्राप्त कैसे हो? इस बात पर विवेकी जन विचार करके आगे कदम रखते हैं और अविवेकी जन जिनमें उन्हें तात्कालिक सुख लाभ प्रतीत होता है, आगे पीछे का कुछ भी परिणाम न सोचकर उसमें लग जाया करते हैं। अनादि से इस जीव पर यही बात तो बीत रही है, अपने आपमें यही उनका श्रद्धान बना हुआ है कि अमुक पदार्थ के लगाव से, अमुक के स्नेह से हमको सुख प्राप्त होगा अन्यथा धन कमाने की, धन बढ़ाने की और संतान बढ़ाने की क्यों कोशिश की जाय? धन बढ़ेगा तो इससे मुझे सुख होगा, चार आदमी अच्छा कहेंगे, लोगों में इज्जत बढेगी, दुनिया सम्मान करेगी, तो उसमें मुझे सुख लाभ होगा। यों भावना बनाने पर ही तो धन की होड़ में लगे हुए हैं। संतान होगी तो वह मेरा नाम बढ़ायेगी, वह मेरे कुल का दीपक बनेगी, उससे मेरे वंश का प्रकाश होगा, नाम होगा, जब पाटिया पर वंश वृक्ष बनेगा तो जड़ के नीचे हमारा नाम भी लिखा रहेगा। यों सोचकर लोग परिजनों से मोह रखते हैं, लेकिन आत्मन् ! विवेकपूर्वक सोच। तेरी इज्जत क्या है, तेरा धन क्या है और तेरा वंश क्या है? तेरी इज्जत तो वह है कि तेरी दृष्टि में तेरा वैभव अपने आपकी प्रसन्नता समायी हुई हो जिसमें किसी भी प्रकार का क्षोभ न हो, वह तेरी सबसे बड़ी इज्जत है। तेरा धन क्या है? तू अपने ज्ञानविकास में रहे, तीन लोक की सारी रचना तेरे में जड़ जाय, इससे बढ़कर और कौन वैभव है? ये गहने बनाये, घर बनाया, लेकिन तेरा ज्ञान तो ऐसा विशुद्ध है कि जो कुछ भी सत् है लोक में और लोक क्या, अलोक असीम आकाश द्रव्य वह भी सर्व कुछ तेरे ज्ञान में जड़ जायेगा। इससे बढ़कर और वैभव क्या चाहिए?

**वास्तविक वैभव लाभ का उपाय आकिञ्चन्य की उपासना—** आत्मा के इस वैभव की प्राप्ति का उपाय क्या है? आत्मानुशासन में श्री गुणभद्राचार्य ने बताया है कि तेरा मात्र तू ही है, तू अपने आपमें आस्था रखकर आराम से ठहर जा। मैं अकिञ्चन हूँ, ऐसा तू सोच विचारकर टन्नाकर अपने आपमें ठहर जा, देख त्रैलोक्याधिपति बन जायेगा। देखो— बड़े-बड़े योगियों द्वारा गम्य यह रहस्य बताया है परमात्मतत्त्व का। मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, यह जब ज्ञान में आता है तो निज सहज स्वच्छ भाव का प्रकाश होता है- रागादिक भाव सब अनियत भाव हैं, इनकी मेरे में क्या प्रतिष्ठा? मैं इनसे निराला केवल एक नियत

चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ। देखो अपने में नियत स्वभाव की ओर मुड़ो, परमवैभव प्राप्त करो, यही उपाय नहीं कर पाया अब तक जिससे इस संसार में रुल रहे हैं। इन उपायों को करने का कुछ साहस भी तो करना है इसको प्रायोगिक रूप भी तो देना है। केवल बात बात से ही तो काम नहीं बनता। जो रागद्वेष मोहादिक विकल्प के साधन हैं, जिनका आश्रय करके हम रागादिक रूप परिणमा करते हैं उन आश्रयों का त्याग करें, उनसे दूर रहें, यही तो त्याग का रूप है।

**चरणानुयोग में विकल्पाश्रयों के परिहार का उपदेश—** चरणानुयोग में बाह्य चारित्र का रूप आया कहाँ से? इसी आधार पर कि रागादिक विकल्पों का आश्रयभूत जो-जो पदार्थ बनते हैं उनका परिहार करें। यद्यपि परिहार करने पर भी कुछ समय विकल्प रह सकता है लेकिन जब आश्रयभूत परवस्तु का परिहार किया गया तो रागादिक जड़ सिंचेगी नहीं। इसका उपाय बताया गया है, मुख्य उपाय व गौण उपाय। मुख्य उपाय तो तत्त्व ज्ञान है, विचार है, दृष्टि करना है, चिंतन है, भेदविज्ञान है पर संस्कार हमारे अनादि से जब कषायचक्र से भरे पड़े हैं तो ऐसी स्थिति में अनुभव भी आपका बता रहा होगा कि उन बाह्य पदार्थों का परित्याग करें, विकल्प न रहें। निर्विकल्पता के सम्मुख होने के लिए बाह्य पदार्थों का परित्याग है न कि बाह्य पदार्थों के त्याग का विकल्प बढ़ाने के लिए उनका त्याग है। यह सब साधना है व प्रयोग है। अपने को अनुभव करना है आकिञ्चन्य, और बुद्धिपूर्वक बन रहे हो सकिंचन तो उस उपाय में प्रगति हो सकेगी। बाह्य पदार्थों का समागम तो इसके लिए एक ऐसा भार है, बोझ है, मल है कि उस समागम में यह मोहान्ध हो जाता है। अपनी सुध रहती है न प्रभुभक्ति की बुध रहती है। उन समागमों से यह क्या लाभ पायगा। इसका लाभ है एक इस अन्तर्दृष्टि से। मैं अकिञ्चन हूँ, ये जड़ वैभव मेरे नहीं, यह देह भी मेरा नहीं, ये कर्म भी मेरे नहीं, कर्मफल मेरा नहीं, रागादिक विभाव मेरे नहीं और ये छुटपुट वितर्क विचार जो उत्पन्न होते हैं वे भी मेरे स्वरूप नहीं। ऐसे एक निश्चल ज्ञायकस्वरूप की ओर लगने का जो विशुद्ध ज्ञान परिणमन है प्रतिसमय का उस परिणमन की दृष्टि में निरखी गयी शुद्ध पर्याय भी मेरा स्वरूप नहीं। पर मेरे स्वरूप का वह प्रकट रूपक है। मैं हूँ एक सहजज्ञानस्वरूप।

**दृष्टि के अनुरूप अनुभव—** दृष्टि की ऐसी तीव्र गति होती है कि कितनी भी अडचनें सामने आये उनको पार करके अपने लक्ष्य में पहुँच जाती है और आनन्द मिलता है उस ही का जिसकी दृष्टि की गई। एक बार बादशाह ने बीरबल को नीचा दिखाने के लिए सभा में कहा कि देखो बीरबल आज रात्रि को हमें एक ऐसा स्वप्न आया था कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे। कुछ अँधेरा उजेला सा था, रास्ते में हमें दो गड्डे मिले, एक में भरा था गोबर और एक में भरी थी घी शक्कर। सो हम तो गिर गए शक्कर के गड्डे में और तुम गिर गए गोबर के गड्डे में। तो बीरबल ताड़ गए कि हमको लज्जित करने के लिए महाराज ने ऐसा कहा है। सो वह बात काटकर बोला— महाराज, हमने भी आज रात को ठीक ऐसा ही स्वप्न देखा कि हम

तुम दोनों घूमने जा रहे थे, रास्ते में दो गड्डे मिले, तो आप तो गिर गए शक्कर के गड्डे में और मैं गिर गया गोबर (मल) के गड्डे में, पर इसके अतिरिक्त हमने एक बात और देखी कि आप तो हमें चाट रहे थे और मैं आपको चाट रहा था। अब बतलाओ बीरबल पड़ा तो है गोबर में (मल में) और स्वाद ले रहा है शक्कर का और बादशाह पड़ा तो है शक्कर के गड्डे में, मगर स्वाद ले रहा है गोबर (मल) का। तब ऐसी स्थिति होने की बात सुनकर रात दिन गोबर में ही पड़े रहोगे क्या। वह तो एक किसी क्षण की स्थिति है। तो यों ही समझिये कि हम आप तत्त्वज्ञान करते हैं और जिस समय इस ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि जगती है तो गृहस्थ होने पर भी, अनेक प्रकार की खटपट एवं दंदफंद होने पर भी किसी क्षण उस तत्त्वज्ञान की विशेष अभिमुखता होती है तो आनन्द आता है ज्ञानसुधारस का। लेकिन इस ज्ञानसुधारस का आनन्द विशेष तब आयेगा जबकि कुछ संयम की ओर बढ़ते हैं और बाह्यसंयम की साधना का हमें अवसर मिलता है, हम अन्तःसाधना में बढ़ते हैं। जो जो भी जीव मुक्त हुए, भेदविज्ञान किया और आत्मा का अभेदरूप ध्यान किया और इसी उपाय से बढ़-बढ़कर विशेष निराकुलता पाकर जिसको कि वचनों से कहना अशक्य है, एक इस ही पद्धति से, सर्वसंकटों से मुक्त होकर सदा के लिए आनन्दमय हुए।

**विशुद्ध दृष्टि का लाभ—** एक विशुद्ध दृष्टि बनाना है, हमें अपना कल्याण करना है, बन्धन से मुक्त होना है और विशुद्ध आनन्द प्राप्त करना है, इसके सिवाय दूसरा कोई ध्येय नहीं हो। इसकी प्राप्ति के लिए जो देवभक्ति, शास्त्राध्ययन, गुरुसत्संग आदिक उपाय बताये हैं इन उपायों में विशुद्ध दृष्टि लगाकर हमें अपनी विशुद्धि प्राप्त करनी है। केवल एक ही लक्ष्य है। यदि इस मार्ग में चलकर भी हमने अपने उपयोग को किसी भी ओर उलझाया तो यह उलझन बढ़ती जायेगी। लौकिक लाभ से या किसी भी कारण से तो हम अपने जीवन को सफल करने के अवसर से हाथ धो बैठेंगे। केवल एक उद्देश्य है कल्याणलाभ, शिवमय यह स्वयं आत्मतत्त्व हमारी दृष्टि में रहे तो शिवस्वरूप होना आसान ही तो है। कठिन कब तक है। जब तक इसके निकट न पहुँचे तब तक कठिनाई है। पहुँच गए फिर कठिनाई नहीं है। इसका प्रारम्भ भेदविज्ञान से शुरू होता है और भेदविज्ञान का प्रारम्भ वस्तुस्वरूप के निर्णय से शुरू होता है। यदि अनेक बातों में कुछ विवाद भी हो, क्षोभ हो तो कम से कम इतना तो परिज्ञान कर लेना चाहिए और इतने को ही आवश्यकता समझकर इस पर ही जोर देना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें परिपूर्ण है और अपने ही सत्त्व से सहित है, अन्य समस्त परद्रव्यों से असम्बद्ध है, अतएव मैं अकिञ्चन हूँ। आकिञ्चन्य भावना करना अमृतपान है। आकिञ्चन्यभावना से त्रैलोकाधिपतित्व प्राप्त होता है, जो मेरे लिए सब कुछ है। आकिञ्चन्यभावना के फल में सब कुछ प्राप्त होता है, सकिञ्चन बनने में दुर्दशा भोगनी होती है। जैसे जब बूढ़े बुढ़ियों से बात करें तो वे बताते हैं कि देखो मेरे पास सब कुछ है, नाती, पोते, घर, द्वार, सब ठाठ बाट सब कुछ है, हमें कोई चिन्ता नहीं है। अरे चिन्ता है यह तो तुम वचनों से ही बता रहे हो। सब कुछ है यह भावना रहे और कहो कि चिन्ता

नहीं ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं? आकिञ्चन्य की भक्ति से हमें कुछ लाभ मिलेगा। पर सकिञ्चन्य की उपासना से लाभ न मिलेगा। यों ही आकिञ्चन्य की भक्ति से अपने में विकास होगा, सकिञ्चन्य की बुद्धि से हमको लाभ न होगा, जन्ममरण के संकट ही सहने होंगे। प्रभु अकिञ्चन हैं, अपने स्वरूप में हैं उनके पास धन नहीं, वैभव नहीं, कोई अधिकार नहीं, लेकिन उनकी भक्ति से जो कुछ प्राप्त हो जाता है वह यहाँ के धनिक जनों से प्राप्त नहीं हो सकता है? अगर धनिक जनों के संग में कुछ प्राप्त भी हो तो पूर्व पुण्यबल से ही तो प्राप्त हुआ, वह पुण्यबल इसके पौरुष से ही मिला।

**दैवोपेत पौरुष से लौकिक लाभ व देवाघातक पौरुष से अलौकिक लाभ—** एक चर्चा और चला करती है जनों में कि भाई पौरुष से काम बनता है या भाग्य से? तो अष्टसहस्री में इसका अनेकान्तवाद से प्रकाश डाला गया है और बताया है कि इस लोक में जितने भी कार्य सिद्ध होते हैं वे भाग्यसहित पौरुष से सिद्ध होते हैं। कोई कहे कि केवल भाग्य से ही समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है, तो पहिले तो इसमें यही दोष है कि भाग्य से सारी बातें बनती हैं तो बताये भाग्य कहाँ से बना? सारी बातों में भाग्य भी तो शामिल है। यदि कहो कि भाग्य से बनता है तब तो मुक्ति कभी का अवसर ही न मिलेगा, भाग्य से भाग्य बनता जायेगा और यदि कहो कि भाग्य पौरुष से बना अर्थात् जीव ने विशुद्ध भाव किया, अच्छे परिणाम किये, उन भावों के निमित्त से भाग्य बना, तो अब दैवएकान्त तो न रहा। कोई चीज (दैव) पुरुषार्थ से तो मिली और फिर वर्तमान की भी बात देखा तो जिनका दैव अनुकूल है उनका कुछ न कुछ पौरुष भी तो हुआ करता है। तो केवल भाग्य से ही सिद्धि है यह बात नहीं बनती। कोई कहे कि केवल पौरुष से ही सिद्धि है तो यदि पौरुष से ही सिद्धि है तो सभी लोग समान प्रयत्न करते हैं मगर लाभ उन सबको समान क्यों नहीं होता? बल्कि लकड़हारे, घसियारे आदि ये बहुत अधिक परिश्रम करते हैं फिर भी बहुत कम आय होती है। उनकी अपेक्षा जो गद्दी पर बैठे हैं, जो सिर्फ एक आध घंटे कुछ काम देख लेते हैं, उनके बहुत-बहुत आय होती है। तो फिर इस लोक में सिद्धि पौरुष से होती है यह एकान्त नहीं बनता। दैव अनुकूल हो तो पौरुष से यहाँ लौकिक प्रयोजन की सिद्धि होती है। तब तात्पर्य क्या निकला कि दैवसहित पौरुष से यहाँ सिद्धि हुआ करती है और उसमें बुद्धिपूर्वक बातों में तो पौरुष की प्रधानता है। यह तो यहाँ की लौकिक बातों की बात कर रहे हैं। वैसे देखा जाय तो जब मोक्षमार्ग में चलने वाले जीवों को पुरुषों को शुभ दैव अनुकूल हुआ, पुण्योदय हुआ, सत्संग अच्छा हुआ, कुल अच्छा हुआ, देश अच्छा मिला, समागम अच्छा मिला, मोक्षमार्ग के लिये यत्न हुआ तो मोक्षमार्ग के लिये पौरुष भी चला, चलो यह भी सही है, पर मोक्षमार्ग के प्रकरण की बात जुदा है क्योंकि वहाँ तो मोक्ष भाग्य फूटने से होता है, भाग्य से नहीं होता। महाशकुन, महाकल्याण, महामंगल तब प्राप्त होता है जब भाग्य फूटता है। तो जो यहाँ जरा-जरा सी बातों में घबड़ा जाते हैं, हमारे भाग्य फूट गए, फलानी विपत्ति आयी, इतना नुकसान हो गया, अरे भाग्य फूटा कहाँ है? बल्कि भाग्य तेज उदय में आ रहा है

इसलिए नुकसान हुआ है। भाग्य मायने पाप भी तो है और भाग्य मायने पुण्य भी है, जब भाग्य तेज हो गया तब नुकसान हो रहा, इष्टवियोग हो रहे। भाग्य फूटे तो सही, जहाँ दैव का क्षय है वहाँ निर्वाण की प्राप्ति है।

**दैवफलभूत विकार में राग न करने का कर्तव्य—** हमारा काम क्या है? काम यह है कि दैव फल जो हमें मिल रहा है उस फल में हम राग न रखे। एक ही बात एक ही कदम अपना बढ़ता जाय कि जो भी स्थितियाँ हम पर आयें उनमें घबड़ायें नहीं, उनमें राग न करें, उनकी चाह न करें। जैसे कोई रोगी रईस है, उसके लिए आराम के अनेक साधन हैं। बहुत बढ़िया पलंग बिछा है, बहुत से मित्रजन भी पास आते जाते रहते हैं, डाक्टर भी ठीक समय में आता है, बहुत से लोग दिल बहलाने के लिए आते हैं, सेवा के लिए एक दो नौकर भी लगे हुए हैं, सब प्रकार के आराम के साधन हैं, इतने पर भी उस रोगी रईस को उन आराम के साधनों में राग नहीं है। वह तो यह नहीं चाहता कि ऐसा आराम मुझे जिन्दगी भर मिले। वह तो चाहता है कि मैं कब अच्छा होऊँ और प्रतिदिन एक दो मील चलूँ। तो ऐसे ही जो भी स्थितियाँ आयें हम उनमें घबड़ायें नहीं। कठिन से कठिन स्थितियाँ आयें, जैसे मान लो किसी इष्ट का वियोग हो गया तो उस समय ऐसा सोच लें कि अरे यह तो कुछ भी स्थिति नहीं। दूसरे तो दूसरे ही हैं। उनका सब कुछ उनके भाग्य के अनुसार होता है। संकट तो कुछ बाहर से नहीं आया, पर उस ओर जो लगाव है उसने सब खराब बना दिया। वहाँ चेतें, कर्मफल में राग न करें, जो स्थितियाँ आयें, जो भाव आयें, जो विभाव उठें उनमें राग मत करो। महिमान में कोई राग नहीं करता। राग तो होता है पर मोह कोई नहीं करता। वह महिमान ही तो है। महिमा न जिसकी अपने घर में महिमा नहीं, कोई महिमान है वह तो एक दो दिन रहेगा, उससे किसी को मोह नहीं होता। मोह तो करते हैं लोग पुत्रादिक में। वे जानते हैं कि यह महिमान है। यह तो आया है अभी चला जायगा, इस घर में न रहेगा? तो उस महिमान से क्या राग बढ़ाना? उससे मुझे क्या मिलेगा? एक मोटे दृष्टान्त की बात कह रहे हैं। तो यहाँ उपेक्षा बनाये कि जो अपने आपमें रागद्वेषादिक भाव उखड़ते हैं, विकल्प विचार उठते हैं, यहाँ भी गुजर रहे हैं मुझ पर, पर ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं तो वह तत्त्व हूँ जो अपनी शान में, अपने ही रूप में रहता हूँ। मैं तो एक ज्ञायक स्वरूप हूँ।

**परभाव से उपेक्षा करके स्वभाव में आने का महापौरुष—** समस्त परभावों से उपेक्षा हो जाना, क्रियाफल से उपेक्षा हो जाना, बस यही एक सारभूत कदम है। जो कर सकेगा वह पार हो जायगा। कुछ तो पार हो ही गया। जब वर्तमान में क्षोभ नहीं रहता तो उसे कुछ तो पार समझियेगा। मैं किसी कर्मफल को नहीं भोगता हूँ। आते हैं आयें, मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं तो अपने ही इस स्वरूप का संचेतता हूँ। उसमें ही मेरा उपयोग रहे तो फिर विपत्ति क्या? कोई इस तरह अकिञ्चनभावना के बल से अपने आपके स्वरूप में आये उसे विपत्ति ही क्या? लोग भले ही मानें कि इसके घर नहीं रहा, इसके पुत्र नहीं रहा, इसके धन नहीं रहा, इसके स्त्री नहीं रही, यह बड़ी विपत्ति में है। अरे यह विपत्ति माने तब तो विपत्ति है। यह तो विपत्ति

नहीं मानता और दूसरे लोग विपत्ति मानकर दुःखी हो रहे। तो ऐसा गुप्त ही गुप्त भीतर ही भीतर ढलकर अपने आपके स्वरूप में आये, इससे बढ़ करके पौरुष, इससे बढ़ करके महत्वशाली काम और कुछ भी नहीं हो सकता। यहाँ थोड़े से परिग्रह में राग है। क्या परिग्रह है, पुण्य प्रताप से तो इससे करोड़ों गुना परिग्रह उसे मिनट में मिल जायगा। मर कर देव बन गए, तो देखिये कितनी बड़ी विभूति व इज्जत होगी। तो इसकी क्या वाञ्छा करना? इसकी वाञ्छा का भाव ही शत्रु है। तो इन परभावों से जिनको मेरे स्वरूप में प्रतिष्ठा नहीं है इनसे उपेक्षा करके अपने चैतन्य हित की ओर दृष्टि करना, (देखना) इसकी ही प्रतीक्षा करना है। ऐसी धुन बने, क्षण भर को भी ऐसी दृष्टि जगे तो उसका यह जीवन सफल हो जायगा।

## आप्तमीमांसा प्रवचन

अपने उत्पन्न हुए सुख दुःख की पुण्यास्रव हेतुता व पापास्रव हेतुता का कारण विशुद्धि और संक्लेश भाव— पुण्यास्रव का कारण क्या है और पापास्रव का कारण क्या है? इस सम्बन्ध में बहुत से शंका समाधान के बाद यह निष्कर्ष निकला कि चाहे अपने में सुख हो अथवा दुःख हो, यदि वे विशुद्धि के अंगभूत हैं तो पुण्यास्रव के कारण हैं और इसी कारण अपने में अथवा दूसरे में सुख हो अथवा दुःख हो, यदि वे संक्लेश के अङ्गभूत हैं तो पापास्रव के कारण हैं। जैसे- विद्वान् मुनि अपने आपमें अन्तर्दृष्टि करके सहजपरमात्मतत्त्व की उपासना में लगा है तो उसे अद्भुत अनुपम आनन्द प्राप्त हो रहा है, तो वह सुख की विशुद्धि का अंगभूत है। वह मंदकषाय और निर्मल परिणाम के बीच हो रहा है, अतएव उस समय यदि कोई कर्म बंधता है तो वह शुभ और पुण्यकर्म बंधेगा। किन्तु विषयी जन नाना प्रकार के विषयसाधनों में और विषयभोगों में अपना मौज समझ रहे हैं तो वे भी अपने में सुख मान रहे हैं लेकिन उनका सुख संक्लेश का अङ्गभूत है। कषायें जग रही हैं, तृष्णा का तीव्र उदय है, अपने आपको वश में नहीं रख सकते हैं उस वेग में वे जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति कर रहे हैं उससे उन्हें सुख उत्पन्न हुआ, लेकिन वह सुख पापास्रव का कारणभूत है, क्योंकि वह संक्लेश का अंगभूत है। मुनिजन, तपस्वीजन ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर विराजे हुए तपश्चरण कर रहे है आदि अनेक अनशन वगैरा घोर तपश्चरण में वे अपने आपको लगा रहे हैं। तो आखिर ग्रीष्मादिक की बाधा तो बाधा ही है। उससे शरीर को तो कष्ट ही है। तो वे इस समय कष्ट में हैं, उपसर्ग उपद्रव हुआ तो उस समय भी उनके कोई शारीरिक बाधा तो हुई ही है, लेकिन ऐसी स्थिति में भी चूंकि विशुद्ध परिणाम के फल में वह तपश्चरण हो रहा है। उन तपश्चरणों में मूल परिणाम विशुद्धि ही है। तो विशुद्धि का अंगभूत होने से ऐसे

तपश्चरण की प्रक्रिया में भी वहाँ पुण्यास्रव ही हो रहा। जब अनेक जीव जो इष्टवियोग अनिष्टसंयोग आदिक होने के कारण अपने आपमें बड़ा दुःख मान रहे हैं, बड़ी कठिन पीड़ा अनुभव कर रहे हैं, ऐसा उनका वह दुःख पापास्रव का कारण है, क्योंकि इस दुःख के अनुभव में हेतु उनका संक्लेश परिणाम हैं। विह्वल हो रहे, कषायें भी जग रही हैं तो संक्लेश का अंगभूत होने से अपने आपमें किया गया दुःख पापास्रव का कारण है।

पर में उत्पन्न सुख दुःख से पुण्यास्रव व पापास्रव होने में कारण विशुद्धि व संक्लेशभाव— अब परचेतन में होने वाले सुख दुःख कारणभेद से पुण्य के और पाप के कारण बन जाते हैं। आचार्य महाराज शिष्यों को शिक्षा, दीक्षा, प्रायश्चित्त देते हैं तो यद्यपि स्थूल रूप में प्रायश्चित्त- आदिक देना यह उनके दुःख के लिए कारण है, किन्तु आचार्य महाराज के तो विशुद्ध परिणाम हैं, जिन परिणामों से उन्होंने प्रायश्चित्त दिया है। तो विशुद्धि का अंगभूत होने से वह परस्थ दुःख भी पुण्यास्रव का कारण बना है। कोई जीव दूसरे चेतन में दुःख उत्पन्न करता है, दुःख का निमित्त बनाता है, सताता है, प्राणघात करता है तो वह सब क्रोधादिक कषायों के वश होकर कर रहा है। वहाँ करुणा और हित का रंच भी भाव नहीं है। ऐसी स्थिति में परस्त दुःख पापास्रव का कारण बन रहा है। अनेक उपकारी जीव दूसरों को सुख और हित करने वाला काम करते हैं, वहाँ दूसरों को सुख उत्पन्न होता है। आचार्यजन उपदेश देते हैं उनका उपदेश सुनकर शिष्यों को लाभ मिलता है, सुख उत्पन्न होता है, मोक्षमार्ग में लगते हैं, तो परस्थ सुख भी विशुद्धि का अंगभूत है अर्थात् आचार्यमहाराज की कृपा है सर्व जीवों पर, जिससे उनकी ऐसी प्रवृत्ति है। उनका ग्रन्थरचना का कार्य ऐसा करुणाप्रसाद है कि दूसरे लोग उससे लाभ लेते और सुख पाते हैं। दूसरे जीवों को जो यहाँ सुख उत्पन्न होता है वह विशुद्धि का अंगभूत है। इस कारण वह परस्थ सुख पुण्यास्रव का कारण है। अनेक जीव अपने आपको भी विषयों में प्रवृत्त रख रहे हैं और दूसरों को भी विषयों में प्रेरित करने की प्रवृत्ति है उससे यद्यपि उन दूसरे जीवों ने सुख माना, लेकिन वह परस्थ सुख संक्लेश का अंगभूत है। उस सुख में जो जीव निमित्त हुआ है उसने संक्लेश परिणाम किया। विषयकषायों में अनुरक्ति है उसकी अतएव उसके तो पापास्रव ही हो रहा है।

**स्वपरस्थ सुख दुःख की पुण्यपापास्रवहेतुता के तीन स्वतन्त्र भङ्ग** — उक्त प्रकार सिद्ध हुआ कि सुख और दुःख कोई पुण्य के भी कारण हैं और कोई पाप के भी कारण हैं। उनमें कोई एकान्त नहीं किया जा सकता। अब इस ही विषय को सप्तभङ्गी के रूप में देखा जा रहा है। जहाँ कोई दो धर्म आये तो उन दो धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता, अतएव अवक्तव्य भी बन जाता है। तब इन तीन स्वतंत्र धर्मों के होने से इनके संयोगी भङ्ग मिलकर 7 भङ्ग हो जाते हैं। इनमें प्रथम भङ्ग हुआ कि स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव का हेतु होता है विशुद्धि का अंग होने से। तो यहाँ विशुद्धि के अंगभूत होने की अपेक्षा से वह स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव का कारण बना। दूसरा भङ्ग बनता है कि स्वपरस्थ सुख दुःख किसी अपेक्षा से पापास्रव का कारण होता है अर्थात् संक्लेश का अंगभूत स्वपरस्थ सुख दुःख पापास्रव का कारण है। तीसरा



भङ्ग होता है कि स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव का कारण है। इन दो भङ्गों की बात एक साथ जब विवक्षित करेंगे तो वह कहा नहीं जा सकता। एक साथ अर्पित दोनों धर्मों के होने पर वह अवक्तव्य है विषया। अब तीन भंग हो गए- पहला परस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव का कारण है। दूसरा भंग स्वपरस्थ सुख दुःख पापास्रव का कारण है, तीसरा भंग स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव का व पापास्रव कारण है। ये सब बातें एक साथ कही नहीं जा सकतीं अथवा एक दृष्टि में ये दोनों अवक्तव्य हैं, अतएव अवक्तव्य हैं।

**स्वपरस्थ सुख दुःख की पुण्यपापास्रवहेतुता के चार संयोगी भंग—** अब इसके बाद इसके संयोगी भंग किए जाते हैं तो चौथा संयोगी भंग हुआ कि स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव और पापास्रव का कारणभूत है, जबकि क्रम से इन दोनों अपेक्षाओं पर दृष्टि की जाती है, अपनी विशुद्धि का अंग और संक्लेश का अंग- इन दोनों की क्रम से विवक्षा करते हैं। स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव और पापास्रव का हेतुभूत है। 5 वें भंग में दो का संयोगरूप भंग होता है अर्थात् स्वपरस्थ सुख दुःख पुण्यास्रव का कारण है और अवक्तव्य है, क्योंकि विशुद्धि का अंगभूत होने पर और एक साथ दोनों की विवक्षा किए जाने से यह भंग बना है। छठवां भंग हुआ संयोगी भंग कि स्वपरस्थ सुख दुःख संक्लेश का अंग होने की अपेक्षा से पाप का हेतु है और एक साथ विवक्षित होने से अवक्तव्य है और 7 वां भंग होता है तीन भंगों का एक समूहरूप त्रिसंयोगी भंग। स्वपरस्थ सुख दुःख स्यात् पुण्यास्रव हेतु हैं, स्यात् पापास्रव हेतु हैं और स्यात् अवक्तव्य है, इस प्रकार पुण्यास्रव, पापास्रव के हेतुओं के सम्बन्ध में सप्तभंगी की प्रक्रिया अन्य धर्मों की भांति लगा लेना चाहिए।

**पुण्य, पाप व निर्जरा की भावों पर निर्भरता—** इस परिच्छेद में जो कथन किया गया है उसका सारांश यह लेना है कि सुख दुःख चाहे स्व हो अथवा पर में हों, वह सुख दुःख भी केवल पाप के लिए ही हों, यह बात नहीं, अथवा केवल पुण्य के बंध के लिए हो, यह भी बात नहीं। बल्कि ऐसी विशुद्धि यदि किसी को प्राप्त है जिसका कि कभी अन्त न आयेगा, जिसे क्षायिक भाव कहते हैं, ऐसी विशुद्धि को प्राप्त हुए किसी मुनि के लिए तो वह परिणाम निर्जरा का कारण बन रहा है अथवा उसके लिए वह स्थिति न पुण्य के लिए है न पाप के लिए है। जो निर्विकल्प समाधि में रत है, चारित्रमोह का क्षय करने वाला है, ऐसे वीतराग साधु संतों के तो सुख दुःख पाप के लिए भी नहीं हैं, वे तो सब कर्मनिर्जरा के लिए हैं, लेकिन यदि विशुद्धि का अंगभूत बनता है तो वे सब दुःख पुण्य के लिए होते हैं। यदि संक्लेश का अंगभूत बनता है तो वे सब सुख दुःख पाप के लिए होते हैं। तो इस सम्बन्ध में मोटे रूप से अनेक बातें सिद्ध हुई। सुख दुःख किसी के न पुण्य का बंध कराते, न पाप का, किन्तु केवल निर्जरा ही कराते हैं। तो किसी का सुख दुःख पुण्यास्रव के लिए ही होता है। किसी का सुख दुःख पाप के लिए ही होता है। इससे बाह्य बात देखकर हम अन्तरंग में यह नियम न बना सकेंगे कि किस प्रकार के कर्मों का बंध हुआ है। यह तो सब उस जीव के अंतरंग भावों पर निर्भर है। यदि मंदकषाय और विशुद्धि परिणामों में लग रहा है कोई ज्ञानी तो उसका वह गुण तो पुण्य के

लिए है और कभी शुद्धोपयोग में पहुँचने पर न पुण्य के लिए है और न पाप के लिए है, तब इस सम्बन्ध में जो अन्य एकान्तवादी अपना एकान्त आग्रह रख रहे हैं उनका एकान्त आग्रह मिथ्या है। सब कुछ बात भावों पर निर्भर है। जैसा भाव होता है वैसी कर्मरचना होती है, जैसा भाव होता है वैसी ही स्वयं की सृष्टि होती है। अतः अनेकान्त ज्ञान की सिद्धि करके वस्तुस्वरूप का सम्यक् परिचय पाकर अपने आपमें निर्मलता उत्पन्न करना चाहिए, बस यही मात्र इस मनुष्यजीवन का एक सारभूत काम है।

**संक्षेप में लोकपरिचय—** इस लोक में जो कुछ होता है वह किस तरह होता है और जब जो होना है तब ही होता है या उसमें कोई परिवर्तन भी कर सकता है, ये सब बातें सभी के चित्त में समझने के लिए पडी हैं। स्पष्ट विवरण तो तब जाना जा सकता है कि जब भली प्रकार पदार्थों के स्वरूप की विधि ज्ञात हो, सो थोड़ी-सी बात पदार्थों के सम्बन्ध में कहकर फिर इस विषय को कहेंगे। जगत में पदार्थ 6 जाति के हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव अनन्तानन्त है, पुद्गल अनन्तानन्त है, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक हैं। जीव जाति अर्थात् जितने भी समझने वाले चेतने वाले हैं, जिनके ज्ञान, दर्शन, शक्ति है ऐसे सब जीव कहलाते हैं। अब जीव जाति की दृष्टि से देखें तो निगोद से लेकर नारकी, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, सिद्धभगवान, परमात्म सब एक ही जाति के हैं। जीव पदार्थ है। उसमें जानने देखने की शक्ति है, यह बात सब जीवों में पायी जाती है। पुद्गल कहते हैं इन रूपी पदार्थों को। जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श है, ये सब पुद्गल हैं। हम आपके देखने में जो चीजें आया करती हैं वे सब पुद्गल हैं। जितने दिखने वाले लोग हैं, शरीर हैं अथवा काठ पत्थर हैं या जो भी ये समझ में आ रहे हैं वे सब पुद्गल हैं। जीव व पुद्गल ये दो पदार्थ तो हम आपको भली-भांति समझ में आते हैं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य इनकी कठिन समझ है। जो जीव पुद्गल के चलने में मदद करे सो धर्मद्रव्य है, जो जीव पुद्गल के ठहरने में मदद करे सो अधर्मद्रव्य है। आकाशद्रव्य वह है जहाँ सब चीजें रहती हैं। कालद्रव्य- जिसके परिणमन के निमित्त से पदार्थों में परिणमन होता है। यों 6 प्रकार के पदार्थ जगत में पाये जाते हैं। जीव तो अनन्त हैं। जैसे हम आपका जो यह शरीर है इस शरीर में कितने जीव हैं? आप एक जीव हैं, किन्तु शरीर के कीटाणु और प्रत्येक जगह में रग-रग में बहुत पड़े हैं, वे असंख्याते हैं, साथ ही आपके शरीर में भी अनन्त निगोद जीव हैं। इस एक शरीर में कितने जीव आ गए, और हैं जगत में कितने शरीर। तो अनन्त जीव हैं, उन सब जीवों के साथ कर्म लगे हैं। कर्म क्या कहलाते हैं कि जीव जब कोई शुभ या अशुभ भाव करता है तो ये ही जो कि कार्माणवर्गणा जाति के सूक्ष्मपुद्गल हैं वे कर्मरूप बन जाते हैं और जीव के साथ लगे रहते हैं व जब उनके निकलने याने उदय का समय होता है उस समय जीव को सुख दुःखादिक बहुत से रागादिक विकार उत्पन्न होते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। ये अणु जीवों से अनन्तानन्तगुणे है। जो शरीर लगा हुआ है उस प्रत्येक में भी अनन्त अनन्त अणु हैं। बहुत से लोग तकदीर तकदीर तो करते हैं। तकदीर में ऐसा था सो हो गया, तकदीर ठीक न थी सो न हुआ,

आदि यों तकदीर का नाम बहुत से लोग लेते हैं, लेकिन तकदीर क्या चीज है? कर्म क्या चीज है? उसके सम्बन्ध में जानकारी नहीं रख पाते। कर्म क्या हैं? जीव के साथ लगे हुए जो कार्माण जाति में विस्रसोपचयरूप पुद्गल स्कंध हैं वे कर्म बन जाते हैं।

**प्रत्येक पदार्थ में उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावता—** तो जीव के साथ कर्म लगे हुए हैं और प्रत्येक संसारी के साथ शरीर लगा है। ये सभी पदार्थ जितने हैं सबमें यह स्वभाव पड़ा है कि वे हमेशा उत्पन्न होते, नष्ट होते और बने रहते। जैसे यह एक अंगुली है, अभी सीधी है, अब टेढ़ी कर दिया तो देखो सीध तो मिट गई और टेढ़ आ गई, इतने पर भी अंगुली वही की वही रही। ऐसी ही सब पदार्थों की बात है। पदार्थ में कोई नवीन चीज पुरानी से नई बनी तो उसमें क्या हुआ कि उसका पुरानापन मिट गया, नयापन आ गया। फिर भी वह पदार्थ वही का वही रहा। यह पदार्थ में स्वभाव पड़ा हुआ है। पदार्थ अगर है तो उसमें नियम से ये तीनों बातें हैं। कोई नई चीज बनी तो पुरानापन मिटा, नयापन आया फिर भी चीज वही की वही रही। आप सब जगह दृष्टि फैलाकर देखें- कोई चीज बनी पडी हुई है और जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है वैसे ही वैसे वह चीज पुरानी होती जाती है, टूटने लगती है। मान लो कोई तख्त बना और उसको बने 25 वर्ष हो गए, तो 25 वर्ष पहिले जो तख्त की हालत थी क्या अब है? उस समय नया था, मजबूत था, आज वह घुन गया, कमजोर हो गया है, भली प्रकार उस पर बैठ भी नहीं सकते तो देखो उसकी अवस्था बदली ना, मगर मैटर तो वही है। तो पदार्थ की पुरानी अवस्था नष्ट हो, नई अवस्था बने, फिर भी वह चीज वही की वही बनी रहे, यह समस्त पदार्थों में पड़ा हुआ है। इस बात को यदि आप भली प्रकार जान लेंगे तो आपकी बहुत-सी समस्यायें स्वतः ही हल हो जायेंगी। यह एक समस्या भी हल हो जायगी कि इस जगत का बनाने वाला कौन है? जगत अनादिकाल से है, यहाँ जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपनी नवीन अवस्था बनाते हैं, पुरानी अवस्था विलीन करते हैं, फिर भी त्यों के त्यों बने रहते हैं। यही हालत हम आप समस्त जीवों की हो रही है। जैसे किसी को कषायभाव जगा तो शान्ति मिटी, क्रोध उत्पन्न हुआ, फिर भी जीव वही है अथवा किसी को किसी बात का ज्ञान जगा तो नवीन ज्ञान का उत्पाद हुआ, अज्ञान का विनाश हुआ, फिर भी वह जीव वही रहा। तो सभी पदार्थों में ये तीनों बातें पायी जाती हैं।

**निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध और परिणमनस्वातन्त्र्य—** अब यहाँ देखिये यह कि इन सब पदार्थों की बात किस प्रकार होती रहती हैं। इनमें दूसरे पदार्थ निमित्त पड़ जाते हैं। जैसे रोटी बनी तो वह आटे में ही, मगर आग, पानी तथा रोटी बनाने वाली महिला ये सब उसमें निमित्त पड़ते हैं। इस तरह वह रोटी बन गई। इसी तरह सभी बातों में एक दूसरा कारण पड़ता जाता है, चीज बनती जाती है। यह भी बात समझ में आ रही है। कोई कुछ बात सीखता है तो उसमें जो सिखाने वाला है वह निमित्त होता है। जैसे बच्चे लोग मास्टर से पाठ सीखते हैं तो उनके सिखाने में वह मास्टर निमित्त होता है, क्योंकि वह उसे अपनी बुद्धि से सिखाता है।

यों ही एक पदार्थ का निमित्त पाकर परिणम जाता है, फिर भी पदार्थ वही का वही रहता है। मास्टर ने अगर बच्चों को पाठ सिखाया तो मास्टर ने सिखाया और बच्चों ने सीखा, फिर भी वे बच्चे अपनी ज्ञानपरिणति से ही सीखे हैं, कहीं मास्टर की परिणति से तो नहीं सीखे। यों एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के परिणमन में निमित्त होता है, मगर सभी पदार्थ केवल अपने आपमें अकेले ही अपना परिणमन करते हैं, इस तरह इस जगत की व्यवस्था बन रही है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी अवस्था बनाता रहता है। उसमें भले ही दूसरा पदार्थ निमित्त पड़ जाय, पर निमित्त की कोई चीज उसमें नहीं जाती, या निमित्त और वह परिणमने वाला उपादान मिलकर नहीं परिणमा करते। कभी ऐसा देखा गया है कि किसी दूसरे ग्राम में किसी रिश्तेदार के यहाँ किसी इष्ट व्यक्ति के वियोग में फेरा करने जाते हैं तो उस घर के लोगों के संग मिल जुलकर सभी लोग रोते हैं, तो वहाँ ऐसा लगता है कि देखो इन आने वाले लोगों ने रुला दिया। पर आप यह बताओ कि उन्हें क्या आने वाले लोगों ने रुलाया? अरे वे तो स्वयं ही रोये। वे घर वाले लोग अपने में अपना परिणमन कर रहे, आने वाले लोग अपने में अपना परिणमन कर रहे। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से मिलकर सुखी दुःखी नहीं होता। अगर किन्हीं दो जीवों में मित्रता है और वे दोनों मिलकर नहीं सुखी हो रहे, एक अपने सुख से सुखी हो रहा, दूसरा अपने सुख से। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में परिणमन नहीं करता, पर निमित्त हो रहे हैं। बस इस ही विधि से यह सब जगत का परिणमन चल रहा है।

**नियत और अनियत की दृष्टि—** अब यहाँ यह जानना है कि ये सब परिणमन निश्चित हैं या अनिश्चित? जो होना है वह वही होता है या उसमें फेरफार होता है? तो थोड़ी देर को आप यह जानें कि जब कार्यकारण विधानपूर्वक विकारी कार्य है तो इतनी बात निश्चित है कि नई-नई बात होना उस पदार्थ में स्वभाव से पड़ी हुई नहीं हैं, किन्तु निमित्त पाकर उस प्रकार हुई हैं लेकिन ऐसे-ऐसे ज्ञानी पुरुष हैं तीन लोक तीन काल की बात जान जाते हैं, और कुछ ऐसे भी अवधिज्ञानी पुरुष हैं कि थोड़ी दूर की बात जानते हैं, थोड़े समय की आगे पीछे की जानते हैं लेकिन यथार्थ जानते हैं। तो उनको जो बात दिख गई, वर्ष बाद यह होगा तो जब होगा तब देखा ना। तो एक इस दृष्टि से निश्चित हो गया कि जो होना था सो ही हुआ। अन्य बात नहीं हुआ करती है, लेकिन उसका जो उत्पाद है, निष्पत्ति है वह कार्यकारणविधानपूर्वक ही हुई है। तो दोनों बातें समझनी हैं कि पदार्थ में जो परिणमन होता है वह कारणकार्यविधान सहित होता है लेकिन जब जो होना होता है वह होता है। उस समय वह है। ज्ञानी पुरुष जान जाता है। हम आपको इसका पता नहीं पड़ता है कि हम आपका कल क्या होगा। तो ये कार्य ज्ञानी के ही जानने से नियत हैं और निमित्त पाकर होने से अनियत है। अनियत तो यों है कि पदार्थ में कोई ऐसा गुण नहीं है जो इस बात का नियम कराये कि इस अवस्था के बाद यह ही अवस्था होगी। हाँ, पहिले जो अभी कहा था कि पदार्थ में ऐसा स्वभाव पड़ा है कि वह निरन्तर परिणमता रहे तो इसका अर्थ परिणमनमात्र से है। परिणमन होता रहेगा। पर्यायों को क्रमभावी

बताया है, उसका अर्थ है कि गुणों की तरह पर्यायें एक साथ नहीं होती, उनकी निष्पत्ति क्रम से होती है। इस तरह देखो तो वे अनियत पर्यायें हैं, मगर ज्ञानी द्वारा ज्ञात हैं अथवा जब जो होना है सो होता है, उस दृष्टि से देखा जाय तो सब पर्यायें निश्चित हैं। जब जो होना है सो होता है, इसी आधार पर कहा गया है कि “जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे। अनहोनी नहिं होसी कबहूँ, काहे होत अधीरा रे।।”

**प्रत्येक परिस्थितियों में धीर रहने का सन्देश—** एक बात और अपने हित के लिए समझें कि जगत में जो कुछ होता है वह सब भले के लिए है। हम कसी भी बात में बहुत कुछ लगाव की दृष्टि ही न रखें, क्योंकि हमें इस जगत से कुछ मतलब नहीं, हमें यहाँ कुछ प्रोग्राम नहीं गड़ाना है। कोई हठ न करें कि हमें तो ऐसा ही करना है। हमें इस जगत की स्थितियों को देखकर हर्ष विषाद नहीं करना है। लोग कभी ऐसा कह बैठते हैं कभी किसी विपत्ति में फंसकर, जैसे घर में लड़ाई हो गई, कोई बच्चा रूठ गया तो पिता कह देता है कि चलो अच्छा हुआ, हमारा यह लड़का हमसे अलग हो गया तो इसकी हमें फिक्र तो न रहेगी तो उस पिता का यह कहना गुस्से में आकर कहना है, शान्तिपूर्वक उसने नहीं कहा। हाँ, यदि ज्ञान में यह बात आ जाय कि यहाँ प्रत्येक वस्तु का स्वरूप न्यारा-न्यारा है, यहाँ मेरा कोई नहीं है, हम यहाँ किसी परपदार्थ के परिणमन को देखकर क्यों क्षोभ करें, ठीक है यहाँ जो होता है होने दो, उसे जानते देखते रहो, ऐसी बात जब ज्ञान में आये तब यदि वह कहे कि चलो अच्छा हुआ, मुझे उस रूठ जाने वाले, अलग हो जाने वाले लड़के की फिक्र मिटी तो उसका यह कथन शान्तिपूर्वक है। यहाँ होने वाले दुःखों से हम अधीर न होवें, उस समय ऐसा साहस जगायें कि उन्हें समता पूर्वक सहन करें। उन कष्टों के आने पर ऐसा विचार करें कि ये कष्ट मेरे ही पूर्वकृत पापकर्म के उदय से आये हैं। सो इसी भव में उन पापकर्मों का उदय आ गया तो अच्छा ही हुआ। इस मनुष्यपर्याय के बजाय किसी अन्य पर्याय में उन पापकर्मों का उदय सामने आता तब तो वहाँ कुछ होश ही न हो पाता और वहाँ संक्लेश करके हम अपना बिगाड़ कर बैठते, चलो इस मनुष्यपर्याय में ही वह पूर्वकृत पापकर्म उदय में आकर खिर गया तो वह भली ही बात हुई। इस प्रकार के धीरतापूर्वक आने वाले कष्टों को सहन करें। और अगर पुण्योदय से सुख साधन खूब मिले हुए हैं तो उनको पाकर हर्ष न मानें। क्योंकि आज पुण्योदय से मिले हुए हैं पर वे सदा मेरे साथ रहने के नहीं हैं। ये तो मिट जायेंगे। इनके ज्ञाता द्रष्टा रहने में ही हमारा भला है। क्या जगत में ऐसे मनुष्य देखे नहीं जाते कि जो कभी करोड़पति थे वे कुछ समय बाद गरीब हो गए, अपना पेट पालने के लिए भी तरसते रहे और क्या ऐसे लोग नहीं देखे जाते जो कि कभी फकीर थे, पास में कुछ भी न था, फिर भी कुछ दिनों बाद वे अमीर बन गए? तो देखे जाते हैं ऐसे लोग।

**भिन्न लोकवैभव में लगाव व कर्तृत्वभाव न करने का सन्देश—** यह वैभव तो मायारूप है, उसमें अपना लगाव न रखें। उन परपदार्थों के लगाव में अपना अहित ही है। आया है उदय और आपका ही क्या

उदय है? अगर धन कमाया है, पैसा आया है तो उसे जो जो लोग भोगेंगे उन सभी का पुण्य उसमें सहकारी हो रहा है। घर में जितने भी जीव हैं छोटे से लेकर बड़े तक उन सबका पुण्य सहकारी हो रहा है। जो धन वैभव सब कुछ उपार्जित होता है, उसमें यह ध्यान न रखें कि मैं कमाने वाला हूँ और इतने लोगों को खिलाने वाला हूँ। अरे वह लक्ष्मी तो उन सभी जीवों के भाग्य से आई है जिन-जिनके भोग में वह लक्ष्मी लगेगी। बल्कि कमाने वाले को तो भोगने की फुरसत ही कहाँ? वह तो रूखा सूखा खा कर जीता है। हाँ, भाग्य तो उन घर के लोगों का बलिष्ठ है जो कि घर बैठे बड़े सुख से उसका भोग किया करते हैं। तो धन कमाने में आप निमित्त हो रहे हैं, मगर जिन जिनके भोग में व्यवहार में वह लक्ष्मी आयेगी उन सबका पुण्य उस धनार्जन में काम कर रहा है अथवा जैसे समझो कोई एक बड़ा मिल चल रहा है उसके अन्दर हजारों आदमी काम करते हैं। तो यह बतलावो कि वहाँ मालिक उन कर्मचारियों को पाल रहा या वे कर्मचारी उस मालिक को पाल रहे? वहाँ तो यही कहना पड़ेगा कि मालिक उन कर्मचारियों को पाल रहा है और वे कर्मचारी उस मालिक को पाल रहे हैं। तो वहाँ कोई किसी को पाल नहीं रहा। सत्य बात वहाँ यही है कि उस मिलने से अर्जित आय का जो जो भी लोग उपभोग कर रहे है उन सबके पुण्य के कारण वह चीज बन रही है। इस कथन में कही बाधा न आयेगी।

**स्वकीय उपार्जित आयु के उदय व क्षय बिना जीवन व मरण की अशक्यता—** कौन किसकी रक्षा करने वाला है, कौन किसको मारने वाला है? जिसका आयुकर्म है, वह चाहे जैसी स्थिति में चल रहा हो, सम्बंधी कह उठे कि मरे तो मरे, लेकिन वह मरता नहीं है। जिसकी आयु का क्षय होने वाला है उसको मरण से बचाने में यहाँ कोई समर्थ नहीं है। क्या ऐसे दृष्टान्त पुराणों में नहीं हैं? रोज-रोज हम आपके व्यावहारिक जीवन में भी ऐसी बातें देखी जाती हैं। माँ अपने लाड़ले पुत्र को गोद में लिए रहती है, मगर उस जीव को वह माँ ही क्या, कोई भी बचा सकने में समर्थ नहीं हो पाता है। और किसी के आयु का अगर क्षय नहीं है तो कितनी ही उसकी उपेक्षा कर दी जावे, पर उसे कोई मारने में समर्थ नहीं हो पाता। एक घटना है बुन्देलखण्ड की। शायद वह घटना राजा छत्रसाल के समय की है। छत्रसाल के पिता गुजर गए, उसकी माँ राज्य कर रही थी, उसी समय कुछ मुगलों ने आकर उस पर चढ़ाई कर दी। अब वह रानी तो गर्भिणी थी, बच्चा होने वाला था। पेट दर्द भी शुरू हो गया था, पर उस रानी ने सोचा कि यदि युद्धस्थल में बच्चा पैदा हो गया तो उसे भी दुश्मन लोग मार डालेंगे, क्योंकि शत्रु को यह इच्छा रहती है कि मैं अपने बैरी के वंश को मिटा दूँ। तब उस रानी ने क्या किया कि संतान की रक्षा हेतु घोड़े पर बैठकर युद्धस्थल से बाहर भागी, मुगलों ने उसका पीछा किया। रास्ते में बच्चा पैदा हो गया। जब रानी ने देखा कि अब किसी भी भाँति मेरे बच्चे के प्राण न बच सकेंगे तो उसने उस नवजात बच्चे को एक झाड़ी में छिपा दिया और स्वयं भाग गई। सेना उसे पा न सकी और लौट गई। वह रानी सोचती थी कि बच्चा मर गया होगा पर कई दिन बाद जब

उसे देखने के लिए वह आयी तो उसने क्या देखा कि बच्चा बहुत स्वस्थ था और हंस खेल रहा था। बात क्या हुई थी कि जहाँ वह बच्चा पड़ा था वही ठीक उसके मुख के सामने ऊपर शहद की मक्खियों का छत्ता लगा हुआ था और थोड़ी थोड़ी देर बाद उस बच्चे के मुख पर शहद के बूंद गिर रहे थे। वह बच्चा इतना पुष्ट हो गया था जितना पुष्ट बड़े-बड़े राजघरानों के लोग भी बहुत-बहुत सेवायें करके नहीं कर सकते थे। तो वहाँ बात क्या हुई? क्या उस रानी ने जानबूझकर ऐसी जगह उसे फेंका था कि यहाँ शहद का छत्ता लगा होगा? अरे उसने तो उसे यों ही झाड़ी में फेंक दिया, मगर जिसकी आयु का उदय है उसको ऐसे निमित्त मिल जाते हैं कि वह मरण नहीं कर पाता। तो यहाँ कौन किसकी रक्षा करता है, कौन किसको मार सकता है, कौन किसको सुखी तथा कौन किसको दुःखी कर सकता है? यह सब जीवों के अपने-अपने कमाये हुए भावों के अनुसार होता है।

**सर्वजीवों के सुखी होने की भावना से स्वयं में सुखसंचार—** भैया ! कुछ विवेक करें और इस प्रयत्न से चलें कि मेरे में किसी भी दूसरे जीव को दुःखी करने का भाव न उत्पन्न हो। दुःखी करने के भाव से आपको मिलेगा क्या? किसी जीव को दुःखी करने का भाव आपने बनाया तो उससे आपको लाभ मिलेगा कुछ नहीं, उल्टा पाप का ही बंध होगा और नियम से आपको उससे भी कई गुना दुःखी होना पड़ेगा। यदि दूसरे जीवों को सुख मिले, ऐसा आपका परिणाम होगा तो आपके पुण्य का बंध होगा और आगामी ऐसा समागम मिलेगा कि आप आराम में रहेंगे और वर्तमान में भी देखो तो आप किसी जीव को दुःखी करने का भाव बनाते हैं तो उस समय आप तो दुःखी हो ही जाते हैं। भीतर में संक्लेश परिणाम किए बिना दूसरे को दुःख देने का भाव नहीं बनता। और यदि आप सबको सुखी होने का परिणाम रखते हैं तो उसी समय आप भी बड़े आनन्द में बैठे हुए हैं, क्योंकि अच्छी बात विचारने में खुद भी बड़े प्रसन्न और सुखी रहा करते हैं। तो कर्तव्य यह है कि किसी पर अन्याय न करें किसी का दिल न दुखायें। अगर न्याय-नीति का व्यवहार होगा तो उससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है और यदि अन्याय, अनीति की प्रवृत्ति करते हैं तो उससे पापकर्म का बन्ध होता है। तो किसी को दुःखी करने का भाव न बनायें। सब जीव सुखी हों, ऐसी सब जीवों के सुखी होने की भावना बनेगी तो आपको ऐसे पुण्य का बंध होगा कि आपको बड़े-बड़े सुख समागम प्राप्त होंगे और सर्वप्रकार से संकट टलेंगे। अब आप समझिये कि जो लोग मांसभक्षण करते हैं, शराब पीते हैं, या अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करते हैं वे दूसरे जीवों पर अन्याय कर रहे हैं या नहीं। बिना दूसरे जीव का प्राणघात हुए मांस तो नहीं मिलता। जो जीव मारा जाता है वह कितना विकल होता होगा। तो मांसभक्षण करने वाले लोग कितना अन्याय कर रहे हैं। उनके जीवों के प्रति दया का भाव कहाँ उत्पन्न हो रहा है। यदि कोई एक इसी बात पर दृढ़ रहे कि हमें तो अन्याय नहीं करना है, किसी जीव को सताना नहीं है तो उसके हिंसा, झूठ, चोरी आदिक के समस्त पापकर्म स्वतः ही छूट जायेंगे। तो एक इस प्रवृत्ति से चलें कि हमें अन्याय नहीं करना है।

हम मनुष्य हुए है तो सबके सुखी होने की भावना रखकर अपना जीवन बितायें और अपना जीवन सफल करें।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब निरन्तर अपनी परिणति करते रहते हैं द्रव्य में यह स्वभाव है, कब तक परिणति करते रहेंगे इसका कोई अन्त नहीं। अनन्तकाल तक सभी पदार्थ अपनी परिणति करते रहेंगे। तो चूंकि पदार्थ अनन्तकाल तक रहेंगे इस कारण से अनन्तपर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहा गया है। इस कथन से यह बात नहीं निश्चित होती है कि विभावपर्याय में अमुक पर्याय के बाद यह ही पर्याय होगी। यद्यपि ज्ञान में सुनिश्चित है और उस समय जो होना है सो ही होगा, परपदार्थ में स्वभाव के ही कारण अथवा उसमें कोई ऐसा गुण न होने से कि अमुक पर्याय के बाद अमुक ही विकार होगा व ऐसा स्वभाव में न होने से ये विभावपर्यायें अनियत कही जाती हैं और अनियत होने का दूसरा हेतु यह है कि ये परपदार्थ का निमित्त पाकर होते हैं, भले ही स्वकाल में होते हैं, अर्थात् जब जो होना है तब वह होता है ऐसा आशय रखकर मात्र यह निरखें कि पदार्थ में तो वे सब पर्यायें अपने-अपने समय पर होंगी ही। उस समय जो सामने अनुकूल पदार्थ हैं वे निमित्त पड़ते हैं, यों अन्य की दृष्टि वहाँ होती ही नहीं। सो इस दृष्टि में निमित्त की बात को देखने की बात ही विरुद्ध है। जब हम द्रव्य को एक निगाह में तक रहे हैं, उसमें अनन्त पर्यायें होती हैं और वे क्रम से हो रही हैं, जब एक ही द्रव्य को तक रहे हैं वहाँ निमित्त की चर्चा करना बेतुकी बात है। अगर चर्चा करते हैं तो वहाँ ठीक कारणकार्य की हमें चर्चा करनी चाहिये। तो चूंकि जितने भी विभावपरिणामन हैं वे निमित्त हो पाकर ही होते हैं, इस कारण अनियत कहलाते हैं। नियतपर्याय स्वभावपर्याय को कहते हैं, जिसके बाद यह समझ चलती है कि यह ही होगा। स्वभावतः जो निश्चित है उसे नियतपर्याय कहते हैं। जैसे केवलज्ञान जब होता है उसके बाद केवलज्ञान ही केवलज्ञान होता चला जायगा, बीच में अब दूसरी बात न आयगी ऐसी पर्याय को नियत पर्याय कहते हैं, और जो किसी निमित्त को पाकर उत्पन्न होने वाला विकार है, जो स्वभाव में नियत नहीं है उसे कहते हैं अनियत।

सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञान में अनियत पर्याय भी ज्ञात है और नियत पर्याय भी ज्ञात है। अनियत पर्याय का अर्थ यह है कि जो पदार्थ में चैतन्य के स्वभाव से निश्चित नहीं है किन्तु किसी परनिमित्त को पाकर उत्पन्न हुआ है, जिनकी स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं है उनको कहते हैं अनियत पर्याय और जो उपाधि के बिना अपने ही स्वभाव में उत्पन्न होते रहते हैं, जिनके बाद यह निश्चित है कि इसके बाद यही ही पर्याय हो सकेगी, अन्य पर्याय हो ही नहीं सकती वे सब निमित्त पर्यायें हैं। जैसे केवलज्ञान के बाद ज्ञान में केवलज्ञान केवलज्ञान ही होगा, अन्य कुछ हो ही नहीं सकता क्योंकि ज्ञानावरण का सम्पूर्ण क्षय है वहाँ उपाधि का सद्भाव नहीं है तो यह नियतपर्याय कहलाती है। जो स्वाभाविक पर्याय है वह सब नियत है। तो सर्वज्ञदेव को ज्ञान में स्वाभाविक पर्यायें और विभावपर्यायें सभी ज्ञान हैं। जो हुआ है वह जान लिया। इस कारण निश्चितवाद के कथन से



अनियतवाद के कथन का विरोध नहीं है। अनियत अनियत है, नियत नियत है। सर्वज्ञ के ज्ञान में सब विदित है। जो पर्यायें अवधि का निमित्त पाकर होती हैं वे अनियत कहलाती हैं, जो पर्यायें उपाधि के अभाव में द्रव्य के स्वभाव से होती हैं वे नियत कहलाती हैं। पर्यायों के नियत होने में और अनियत होने में कारण है उपाधि का अभाव और उपाधि का सद्भाव, पर हैं सब ज्ञानियों द्वारा ज्ञात, किन्तु नियत पर्यायें नियतरूप और अनियत पर्यायें अनियतरूप ज्ञात है। जैसे कोई कहे कि भगवान ने अनन्त पर्यायें जान ली तो अनन्तपर्यायें जब जान लीं तो सब ज्ञात हो गया तो इसका अर्थ क्या यह कि इसके बाद अब कोई पर्याय न रही, तो क्या द्रव्य पर्यायरहित हो जायेगा उसके पश्चात्। जितनी अनन्त पर्यायें जानी हैं उसके बाद द्रव्यपर्याय रहित हो जायेगा सो तो नहीं होता। भगवान ने अनन्त जाना तो अनन्तरूप से जाना कि सान्तरूप से? जब अनन्तरूप से जाना है तो उनका कभी अन्त नहीं हो सकता।

अब जरा पदार्थों में पर्याय होने की व्यवस्था देखिये— जितनी नियत पर्यायें हैं वे उपाधि के अभाव में होती हैं और जो उपाधि का निमित्त पाकर होती हैं वे अनियत पर्यायें कहलाती हैं। भगवान के ज्ञान में सब ज्ञान है तो यह भी ज्ञान है कि अनुकूल निमित्त भी वहाँ रहता है और उसका निमित्त पाकर यह कार्य हुआ है, यह भी ज्ञात है तो विधिविधान में फर्क नहीं आया, अथवा इस ओर से देखिये कि जो पदार्थ जिस विधि से उत्पन्न होना है, होता है, उस होते हुए को किसी विशिष्ट ज्ञानी ने जान लिया। अब यहाँ दो बातें सामने आयीं। यद्यपि इन दोनों बातों का विरोध रंच भी नहीं है, पर एक दृष्टि में दूसरी दृष्टि की बात लगा देने से विरोध आता है।

एक पदार्थ की दृष्टि में उसकी पर्यायों की धारा के निरीक्षण में दृष्टि के अनुसार लाभ व हानि— एक दृष्टि में यह ज्ञात हुआ कि भगवान के ज्ञान में अथवा किसी विशिष्ट ज्ञानी के ज्ञान में जब जो पर्याय होना विदित हुई है उस समय वह पर्याय होगी, अतएव सब पर्यायें निश्चित हैं। यह दृष्टि यद्यपि असत्य नहीं है, लेकिन इसके एकान्त में यह बात पड़ जाती है कि कोई पदार्थ कारण से नहीं होता। निमित्त कुछ चीज नहीं है। जब जो जिस पदार्थ में होना है वह होता ही है। यह एकान्त पड़ा हुआ है और इस एकान्त के पड़ने से दो आपत्तियाँ आती हैं। एक तो यह कि जब जो होना है सो होगा ही, हम श्रम क्यों करें? हम विकल्प क्यों करें? शिक्षा तो यह लेनी चाहिए मगर रूप यह बन जाता है कि हम श्रम भी क्यों करें? धर्म के लिए भी उद्यम क्यों करें? जब धर्म होना होगा तब हो जायेगा। एक यह प्रमाद की बात आती है। दूसरी बात यह आपत्ति आती है कि जब स्वभाव से ही होता है पर्याय पदार्थ में तो वह सदा होती रहे, क्यों उसका अभाव हो? जब कोई पर कारण ही नहीं है निमित्त रूप से तब फिर उस पर्याय के होते रहने का सिलसिला सदा काल रहेगा। रागभाव कभी छूट ही नहीं सकता। जैसे एक दार्शनिक का मत है कि राग का कभी विनाश नहीं होता, मुक्त अवस्था में वह राग उपशान्त हो जाता है और जब चिरकाल व्यतीत होता है तो उसे फिर संसारी

बनना होता है। तो यों राग विकार का कभी अभाव भी न हो सकेगा। जहाँ ये दो आपत्तियाँ आती हैं वहाँ एक भली बात भी हो सकती है। जिसने यह जाना कि द्रव्य अनन्त पर्यायों का समूह है और द्रव्य में एक के बाद अन्य एक एक पर्याय होती रहती हैं और वह पर्याय द्रव्य की परिणति से होती है। द्रव्य ही उसका कारण है। यों अन्य का ख्याल यदि न करे, निमित्त की चर्चा भी न करे वह और यों ही तकता रहे कि पर्याय द्रव्य के आश्रय में उत्पन्न होती है, द्रव्य के आधार में हुई है, द्रव्य से हुई है। यों निरखें तो इस निरखने में पर्याय का देखना तो गौण हो जायेगा और द्रव्यस्वभाव का देखना मुख्य हो जायेगा। ऐसी स्थिति में आश्रयभूत का विकल्प न रहेगा। देखिये ना, हम लोगों के जो विकार उत्पन्न हुआ करते हैं तो होते तो कर्मोदय का निमित्त पाकर, लेकिन कोई बाह्य पदार्थ उपयोग में रहता है, स्त्री पुत्रादिक कुछ भी ध्यान में रहते हैं वे आश्रयभूत हैं। लेकिन जहाँ एक ही पदार्थ लक्षित है तो वहाँ द्रव्य मुख्य हो जाता है और इस दृष्टि में फिर आश्रयभूत उपयोग में नहीं रहता। तो एक मार्ग मिलता है निर्विकल्प होने का। लेकिन निमित्त का विरोध करके तो इस दृष्टि में भी विघ्न डाल दिया जाता है। तब इस दृष्टि का जो रस है वह प्राप्त नहीं हो सकता।

**निमित्त की दृष्टि से नैमित्तिक भाव के निरीक्षण में दृष्टि के अनुसार लाभ व हानि—** अब कुछ दूसरी दृष्टि की बात देखिये- जितने भी विकार होते हैं वे कर्मोदय का निमित्त पाकर और किसी अन्य पदार्थ को उपयोग में आश्रय लेकर हुआ करते हैं। जैसे आपको पुत्र में स्नेह हुआ तो इसमें निमित्त पुत्र नहीं है, किन्तु रागप्रकृति का उदय निमित्त है, और पुत्र आश्रयभूत है। आश्रयभूत उसे कहते हैं कि जिसके साथ विकार का नियम नहीं है। यदि मुनि हो गए और पुत्र सामने है तो उस मुनि को तो राग नहीं होता, क्यों नहीं होता कि रागप्रकृति उदय अब उसके नहीं है। और आश्रयभूत सामने है फिर भी राग नहीं होता, तो निमित्त के साथ नियम है, पर आश्रयभूत पदार्थ के साथ विकार का नियम नहीं है। तो यों रागादिक विकार औपाधिक होते हैं। जहाँ यह जाना कि ये रागादिक विकार तो औपाधिक हैं, बाहर ही बाहर लौटने वाले हैं, वे स्वभावाश्रित नहीं हैं तो वहाँ यह बोध होता है कि मैं इन अनियत भावों से निराला केवल चैतन्यस्वभावमात्र हूँ- इस प्रकार सन्मार्ग में यदि बढ़ना चाहें तो ठीक है, उससे एक स्वभावदृष्टि उत्पन्न होती है। यदि निमित्तदृष्टि को इतना मुख्य कर दिया कि उसे कर्ता मानने लगे तब तो जीव पूर्णपरतन्त्र हो गया, कर्म राग करता है इसमें जीव का तो कुछ हक ही नहीं, वह पौरुषहीन हो गया, फिर तो शान्ति का मार्ग नहीं पा सकेगा।

**धर्म से आत्मा की सिद्धि—** देखिये धर्म से ही आत्मा की सिद्धि है, अन्य बातें आप कितनी ही करते जायें, उनमें तो अपना समय व्यर्थ गंवाना है। धन बहुत बढ़ा लिया तो आपने कल्पना में समझ लिया कि हमने बड़ा उद्यम किया और बहुत लाभ प्राप्त कर लिया, लेकिन लाभ कुछ नहीं पाया, अपना समय व्यर्थ गंवाया। धन तो परवस्तु है, पर की चीज पर में है, आपके साथ चिपकी हुई नहीं है। मरण होने पर आपके साथ जायगा नहीं। मरण की बात तो दूर जाने दो, जब तक जीवन है तब तक भी धन के कारण आप शान्त

नहीं रह सकते। विकल्प बहुत बढ़ जाते हैं, ख्याल कई जगह के हो जाते हैं, चैन नहीं पड़ती है, समय पर खाना भी नहीं खा सकते, लेकिन मोह के उदय में करना यही पड़ता है। करते हैं और दुःखी होते जाते हैं। जैसे लालमिर्च के खाने वाले लोग लालमिर्च खाते जाते हैं, सी-सी भी करते जाते हैं, आँखों से अश्रु भी गिरते जाते हैं, फिर भी कहते हैं कि हमें थोड़ी लालमिर्च और दे दो। जिस लालमिर्च के खाने से दुःखी होते जाते उसी के खाने में अपना सुख समझते हैं, ऐसे ही जिन बाह्य समागमों से दुःखी होते रहते हैं, उन्हीं समागमों से अपने को लिप्त रखते हैं और उनसे अपना सुख समझते हैं। यह धर्ममार्ग तो इससे निराला है। धर्म किसी समागम से प्राप्त नहीं होता। धर्म का अभ्युदय तो आत्मा में आत्म से ही हुआ करता है, वह तो अनैमित्तिक परिणामन है, किसी निमित्त पर दृष्टि रहेगी तो वीतराग परिणतिरूप धर्म नहीं हो सकता। हाँ, पुण्य पाप के रूप का भाव का आश्रय व निमित्त है। इस कारण किसी भी निमित्त पर दृष्टि न रहे, अपने स्वरूप पर दृष्टि रहे तो वह महापुरुषार्थ है और वहाँ धर्म प्रकट होता है। धर्म है स्वभाव का नाम। स्वभाव की दृष्टि होने का नाम है धर्म का पालन करना। देवदर्शन करते समय जितनी देर प्रभु के स्वभाव पर दृष्टि है, जिसको निरखकर हमें अपने स्वभाव का भान होता हो, वह धर्म है और जितना हम बाह्य शुभराग में लग रहे हैं वह धर्म तो नहीं किन्तु शुभ भाव है, धर्म का पात्र बनाये रखने वाला भाव है उसे धर्म भी न कहेंगे और अधर्म भी न कहेंगे, वह तो धर्म की पात्रता बनाये रखने वाला भाव है।

**निर्णय और साधना की स्थिति—** भैया ! निर्णय और साधना दो बातें हुआ करती हैं। निर्णय में तो सर्वतोमुखी दृष्टि करके निर्णय किया जाता है और साधना में केवल एक अंतः स्वभाव का ही लक्ष्य रखकर साधना हुआ करती है। तो साधना के पथ पर जब चलते हैं तो निमित्त का लक्ष्य न करना ही भला है, किन्तु मोही जीव इसका प्रयोग शुभ भाव पर तो करता है, अशुभभाव पर नहीं करता। जिसने यह सुन लिया कि निमित्त की दृष्टि रखने से धर्म नहीं होता तो वह यों सोच बैठता है कि देवशास्त्र गुरु इनका भी लक्ष्य न करें, इनका भी आश्रय न करें, दर्शन आदिक भी न करें, नियम, व्रत, तपश्चरण, आदिक भी न करें, पर इस ओर दृष्टि नहीं देते कि हमारे पापकर्म में जो निमित्त पड़ते हैं उन निमित्तों पर दृष्टि न दें। अगर यह संकल्प कर रखा है कि हमें निमित्त दृष्टि नहीं करना है तो जब शुभनिमित्तों पर दृष्टि करने के लिए अपने को मना करते हो तो अशुभनिमित्तों पर भी दृष्टि करने के लिए मना कर दो। बाह्य समस्त दृष्टियाँ छोड़कर एक जो निज अंतस्तत्त्व है उसका आलम्बन लीजिए, पर ऐसा नहीं कर पाते। यहाँ यह उपदेश किया गया है कि भाई पहिले अशुभ भावों का परित्याग करें, वहाँ होगा शुभ भाव और फिर शुभभावों का परित्याग स्वयं ही स्वावलम्बन में हो ही जायेगा और वहाँ शुद्धोपयोग रहे, यह है स्वावलम्बन में बढ़ने का मार्ग।

अब यहाँ एक स्थूल बात कही जा रही है जैसे कि प्रायः लोग चर्चा किया करते हैं। बताया गया है शास्त्रों में कि मोक्ष होता है ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन से, अर्थात् जिस पुरुष को ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन प्राप्त है

उसे मोक्ष प्राप्त होता है। मनुष्यभव से मोक्ष प्राप्त होता है। करणानुयोग शास्त्रों में बताया गया है कि जिस जीव के ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन है वह ही क्षपक श्रेणी में चढ़कर मुक्ति प्राप्त करता है और जिसके पहिला, दूसरा, तीसरा संहनन है वह उपशम श्रेणी में चढ़ता है और जिसके शेष के चौथा, पांचवां, छठवां संहनन होता है वह श्रेणी पर न चढ़ेगा, यों विवरण सहित बताया गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि मोक्ष का नाम ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन है। तो क्या यह बात असत्य है? ऐसा बहुत से लोग प्रश्न रखते हैं। समाधान यह है कि कथन तो असत्य नहीं है। ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन का धारी पुरुष ही मोक्ष जा सकेगा, लेकिन वहाँ सभी बातें सोचियेगा। वास्तविकता वहाँ यह है कि जो जीव अपने चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य रखकर निमित्त पर दृष्टि न रखकर केवल अपने स्वरूप में उपयोग रखता है उसके कर्मनिर्जरा होती है। साधना तो यह है किन्तु इस साधना में सफलता उसे प्राप्त हो पाती है, जो पुरुष ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन का धारी हो, क्योंकि अनेक उपद्रव ऐसे आया करते हैं जिनसे हीनसंहनन वालों का उपयोग अधीर अस्थिर हो जाता है, तो जो जीव मुक्तिपथ में प्रगति कर रहे हैं उनकी बाह्यस्थितियाँ इस प्रकार की हैं, उन समयों में ऐसे निमित्त होते हैं, यह बात वहाँ अर्थ में लेना है। यदि इस ओर से मुख्यता लेकर कोई अर्थ करे कि ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन से और मनुष्यभव से ही मोक्ष होता है तो इन बाह्यपदार्थों की दृष्टि बनाये रहें, इनकी ही माला जपते रहें तो ऐसे पुरुषों को ऐसे निमित्त भी न मिल सकेंगे। ऐसा सुन्दर निमित्त उसी जीव को प्राप्त होता है जो अपने आत्मा के उपयोग में रहता है जैसे कुछ साधना में रहता है, उसके ऐसा ही बंध होता है। ऐसी ही निर्जरा होती है कि मोक्ष के योग्य मनुष्यभव का जो संहनन चाहिए वह सब प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि सोचिये- मोक्ष नाम किसका है? मोक्ष नाम हैं कर्मों से छुटकारा होने का, शरीर के बन्धन से छुटकारा मिलने का। तो इनसे छुटकारा मिलने की बात उसके ही तो संभव है जो अभी भी यह श्रद्धा रख रहा हो कि मैं आत्मा छूटा हुआ ही हूँ। स्वभाव में ये बातें नहीं हैं, मेरे सहजस्वरूप में कर्म नहीं लगे हैं, शरीर नहीं लगा है, विकार भी नहीं पड़े हैं, अनियतभाव इसी कारण कहलाते है ये कि मेरे सहजस्वभाव में रागादिक विकार पड़े हुए नहीं हैं, ये सब बाहरी बातें हैं, उनसे निराला अपने स्वरूप को निरखने की प्रेरणा मिलती है अनियतभाव के समझने में।

**प्राकरणिक हितशिक्षा—** हम आपको इस प्रकरण से शिक्षा क्या लेना है? यह शिक्षा लेना है कि हमारा शरण सिवाय मेरे ही अन्दर विराजमान मेरा परमात्मतत्त्व है और अन्य कुछ नहीं है। ये बाह्य समागम, ये धन वैभव खेती, मकान, सोना, चाँदी आदिक समस्त दिखने वाली चीजें पौद्गलिक हैं, बाहरी बातें हैं, इनमें हमारा कब्जा नहीं है, ये यहाँ हैं तो हैं, नहीं हैं तो नहीं हैं। ये सब पुण्य से आते हैं, पर इनमें कोई लगाव रखेगा तो वह अपने पुण्य की जड़ काट रहा है, उसको आगे इस वैभव से हाथ धोना पड़ेगा। जिसे वैभव मिला हुआ है वह अगर वैभव से निर्मोह रहता है, उससे लगाव नहीं रखता, उसका ज्ञाता द्रष्टा रहता है कि ये हैं। बाह्य पदार्थ, मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूँ, इसमें मेरा नाता क्या? इससे मेरे आत्मा का भला क्या

होगा? मेरी भलाई तो मेरे स्वभाव की उपासना से है, इस तरह की वृत्ति में जो रहेगा उसके धनी होने पर भी पुण्य का वर्धन होता है और ऐसा वैभव कई गुणित प्राप्त होता है। किन्तु जिसे यह वैभव एक बार मिल गया, और उस वैभव में वह मोही रहता है, उदारता चित्त में नहीं आती तो समझिये कि अब आगे के लिए उसका चान्स खत्म हो गया। आगे उसे वैभव न प्राप्त होगा। यह वैभव प्रकट भिन्न है, इससे मुझे शान्ति की आशा नहीं है, इसकी उपेक्षा करें। घर, कुटुम्ब, परिजन से भी मेरा कोई भला नहीं है, ये प्रकट बाह्य पदार्थ हैं, इनसे उपेक्षा रखें। यह शरीर भी मेरा साथी नहीं है, इसका भी वियोग होगा, लोग इसे जला देंगे, मैं इस शरीर से भी निराला हूँ, इससे क्या लगाव रखना, अपने स्वरूप पर दृष्टि दें- ये रागादिक विकारभाव भी मेरे शरण नहीं हैं, ये भी मेरी बरबादी के लिए ही हैं। इनसे मैं निराला हूँ, चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। इनसे प्रीति नहीं रखना है। अपने स्वभावरूप ही अपने को अनुभवना, प्रतीति में लेना, इन उपायों से हम सदा मुक्त अनादिमुक्त अर्थात् सहज सिद्ध निज परमात्मतत्त्व के दर्शन कर सकेंगे और उस समय जो हमें आनन्द आयेगा उस आनन्द के अनुभवन में, अनगिनते भवों में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा कर लेंगे। हमें फिर मुक्ति का मार्ग मिल जायेगा और वह समय आयेगा कि शरीर कर्म और इन समागमों से सदा के लिए पृथक् हो जायेंगे और केवल अपने स्वरूप के अनुभव से प्रसन्न रहेंगे। यह बात तब ही तो बनेगी जब कि हम इस समय भी यह श्रद्धा रखें कि मैं इन सब झगड़ों से निराला केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ।

**क्रमनियत पर्याय और नैमित्तिकपर्याय के मन्तव्यों की दोनों धारणाओं का समन्वय—** जगत में जो कुछ होता है उसके सम्बन्ध में लोगों की दो धारणायें हैं- एक तो यह कि जब जो होना है वह होता है और पदार्थ में जितनी पर्यायों का क्रम है उस पर्याय के बाद नियत है कि यह अवस्था होगी। दूसरी धारणा यह है कि निश्चित कुछ नहीं है, जब जो समागम मिला, जैसा निमित्त मिला, जिस योग्य उपादान हुआ उस प्रकार परिणमन होता है, किन्तु इन दोनों धारणाओं का समन्वय है, कार्यकारणविधानपूर्वक जैसा निमित्त सन्निधान मिला और उपादान में जिस प्रकार की शक्ति है उस रूप परिणमन होता है। इस कारण कार्यविधान का कभी लोप नहीं हो सकता और ऐसे कार्यकारणविधानपूर्वक जो कुछ होना है वह उस समय उस पद्धति में होता है और ज्ञानी पुरुष उन सब घटनाओं को जान लेता है। ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है कि जो कुछ था, जो कुछ होगा वह सब ज्ञान में ज्ञात हो जाता है, तो जब हमें ज्ञान में ज्ञात हुआ इस दृष्टि से निरखते हैं तो कहने में कोई संकोच न करना चाहिये कि जिस समय जब जो होना है उस समय वह होगा ही, किन्तु जो लोग ऐसा मानकर कारणकार्यविधान का अपलाप करते हैं कि फिर कारणकार्य की विधि ही क्या है? पदार्थ में जिस समय जब जो होना है उस समय वह होगा ही, निमित्त की क्या आवश्यकता है अथवा किसी भी पदार्थ का निमित्त माना तो मान लो वह निमित्त खड़ा ही है। इत्यादि किसी दृष्टि में रहकर किसी अन्य दृष्टि की बात करना बेतुकी बात है। वस्तुतः निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उपादान में पहुँचता नहीं है, किन्तु उपादान

में ऐसी कला है कि वह विकाररूप परिणमेगा तो किसी परनिमित्त का सन्निधान पाकर परिणमेगा? अब इस दृष्टि से दोनों बातें आ जाती हैं। तब जब जैसा निमित्त मिलेगा वैसा ही कार्य होगा, इसमें कोई विरोध नहीं आया और वही सर्वज्ञ या अवधिज्ञानी जान जाता है तब वह निश्चित हो गया अन्यथा अवधिज्ञान आदि मिथ्या हो जायेगा। तो दोनों बातें ठीक हैं समझ लेना चाहिए। जो किसी पक्ष का आग्रह करते हैं वे दूसरे पक्ष का विरोध करके अपने को विकल्प में बनाये रहते हैं और अपने को हित के मार्ग में नहीं लगा पाते हैं।

जं जस्स जह्मि एसे जेण विहाणेण जह्मि कालह्मि।  
जादं जिणेण णियदं जम्म वा अहवमरणं वा॥1॥

तं तस्स तह्मि देसे तेण विहाणेण तह्मि कालह्मि।  
को सक्को चालेदुं इदो वा अह जिणिंदो वा॥2॥

कार्तिकेयानुप्रेक्षा की दो गाथाओं में क्रमनियत व नैमित्तिक दोनों मन्तव्यों के समावेश का दिग्दर्शन—  
अर्थात् जो बात जिस जीव के जिस देश में, जिस समय में जैसा जिस विधान से जैसा होना है भगवान ने जाना है। वह जन्म हो, मरण हो, सुख हो, दुःख हो, विकार हो, शुद्धि हो, जो कुछ भी जाना गया है वह उसके उस देश में, उस विधान से उस काल में वह होगा ही। उसको बदलने के लिए इन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। इस गाथा में दोनों बातों पर प्रकाश डाला है, मगर जो जिस पक्ष का आग्रह रखता है वह अर्थ उसी मुख्यता से लेता है। जो कार्य जहाँ जिस देश में जिस काल में होना है वह वहाँ उस प्रकार होगा, इस कथन को मुख्य करके कोई 'जिस विधान से' इस वाक्यांश को छोड़ देते हैं और गौण कर देते हैं, जिस विधान से जो होना है वह जाना गया है, इसमें कार्यकारण विधान भी है और जाने गए, ये भी आ गए, दोनों बातों का समन्वय है और परिवर्तन करने की बात यह है कि किसी भी पदार्थ में कोई दूसरा पदार्थ कुछ परिणति नहीं करता। निमित्त नैमित्तिक भाव की यह बात है कि योग्य उपादान योग्य निमित्त पाकर अपना प्रभाव बना लेता है, पर कोई किसी दूसरे का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। जो बात जिस निमित्त के सम्पर्क में अपनी उपादान परिणति से होनी है वह उस तरह से होती ही है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और निमित्त- इन 5 की बात इस गाथा में बतायी गई है। इससे यह सिद्ध है कि न तो कार्यकारण का निषेध है और न यह भी बात हो सकती है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता बन जाय, ये दोनों बातें समझनी होंगी और वस्तु का स्वातंत्र्य जानना होगा।

**कार्यकारणविधान के अवगम से उपलभ्य शिक्षा—** देखो कार्यकारणविधान की बात जानने से यह शिक्षा मिलती है कि मेरे में जो रागादिक भाव होते हैं वे मेरे स्वभाव में नहीं होते हैं। मेरा स्वभाव तो प्रभु की तरह एक चैतन्यस्वभाव है, उसमें विकार का काम नहीं है। क्योंकि द्रव्य ही जीव है, ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञानमात्र है, उसमें विकार नहीं स्वभाव में, पड़ा हुआ है किन्तु विकार आया तो है। यह परनिमित्त के सन्निधान से आया है। मेरे स्वभाव में विकार आया होता तो यह विकार हटाया न जा सकता था। तो निमित्त नैमित्तिक भाव मानने पर कितनी ऊँची शिक्षा मिलती है। जो लोग निमित्तनैमित्तिक भाव का अपलाप करते हैं उनको यह दृष्टि कैसे मिलेगी कि ये विकार मेरे नहीं हैं, ये अन्य भाव हैं, निमित्त पाकर हुए हैं, इनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, ये दूर हो जायें, इनसे लगाव न लगायें। और जो लोग निमित्त को कर्ता मानते हैं- देखो कर्म ने किया, राग ने किया आदि। यों वे कायर बन जाते हैं। अरे कर्म करने वाले हैं, मैं क्या कर सकूँगा? कर्म जब जैसा करायेंगे वैसा होगा, अपनी ओर से कुछ उत्साह जगाने का मौका नहीं मिल पाता, इस कारण जितने नय सिद्धान्त में बताये गये हैं उन सबसे शिक्षा मिलती है। व्यवहारनय से भी और निश्चयनय से भी शिक्षा मिलेगी।

**तत्त्वनिर्णय का अपने पर ही प्रयोग—** हमें अपने बारे में निष्कर्ष यह समझना है कि मेरा इस लोक में कहीं कुछ नहीं है, कोई सहारा नहीं, कोई शरण नहीं, यहाँ के स्वप्नवत् संसार में आसक्त न हो जायें। जैसे किसी मनुष्य को स्वप्न आता है और स्वप्न में उसे वैभव मिल गया, राज्य मिल गया और वह उसमें आसक्त हो जाय तो उसकी क्या कीमत है? उसे मिलता कुछ नहीं, केवल ख्याल ही उसने बनाया, इसी प्रकार यह मोहनींद का स्वप्न है, वह नींद है 10-5 मिनट की और यह नींद है 10-20-50 वर्ष की। जितना जीवन है वह सब मोह की नींद में ही तो व्यतीत होता है। यहाँ लोग निरखते हैं कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा वैभव है आदि। अरे तेरा तो यहाँ देह तक भी नहीं है, स्त्री पुत्रादिक की बात करना तो दूर रहो, इस देह से जब यह जीव अलग हो जायगा, जिसे कि लोग मरण कहते हैं तो वे ही घर के लोग इसे घर में न रहने देंगे, झट उसे घर से बाहर करवाकर फुंकवा देंगे। घर के लोग केवल दिखावा के लिए कहते हैं कि भैया ! आप लोग इसे यहाँ से न ले जावो, पर कदाचित् पंच लोग कह बैठें कि भैया इसे यहीं पड़ा रहने दो, इसे फूँकने न ले चलो, तो फिर वे ही घर के लोग हाथ जोड़कर कहने लगेंगे कि भैया इसे जल्दी यहाँ से ले जावो। तो जब यह शरीर भी अपना नहीं है तो और की क्या बात? मेरे में ये जो रागादिक विकार होते हैं ये भी मेरे नहीं है, ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें जो मेरे में उत्पन्न हो रही हैं ये भी मेरी नहीं हैं, ये कषायें होती हैं और मिट जाती हैं। मैं चाहूँ कि मेरा यह क्रोध जो जग गया है वह वैसा ही बना रहे सो बात हो ही नहीं सकती। तो जब ये विकार भी मेरे बनकर नहीं रहते तो और की बात ही क्या? पर यह मोही जीव लगाव रखता है। है तो परपदार्थ, परन्तु यह कहता है कि मेरा है। जैसे एक कहावत है कि

मान न मान मैं तेरा महिमान। जैसे घर में कोई महिमान आया तो यद्यपि उसे घर के लोग नहीं अपना रहे, पर यह कहता है कि मान न मान, मैं तेरा महिमान। तो इसी तरह घर द्वार कुटुम्ब परिजन मित्रजन आदिक ये कोई भी मेरे नहीं हैं। इन सबकी स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्ता है। मैं इनका नहीं बन सकता, पर यह मोही मानव कहता है कि मान न मान, मैं तेरा महिमान। तुम मेरे नहीं बनते तो न बनो पर मैं तो तेरा हूँ। इस तरह मोह की नींद में यह जीव स्वयं विकल्प मचा रहा है, है कुछ नहीं अपना दुनिया में।

**अपना पर में कर्तृत्व—** यहाँ यह जानना चाहिए कि कितने ही निमित्त साधन मिल जायें पर जितने द्रव्य हैं उतने ही उनके स्वयं के परिणामन हैं। किसी दूसरे पदार्थ की अधीनता नहीं है। यहाँ ही देख लो- हम बाल रहे हैं, आप सभी लोग सुन रहे हैं, तो आप सभी लोग अपने ज्ञान से आपमें कुछ समझ रहे हैं, जिसमें जैसी योग्यता है वह वैसा समझ रहा है। हम किसी की परिणति नहीं कर सकते, और हम अपने में अपने समझने व समझाने की परिणति बनाने में स्वतंत्र है, तिस पर भी इतना विलक्षण निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि परस्पर एक दूसरे का निमित्त पाकर हममें व आपमें ऐसा हो रहा है। सो निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होने पर भी ऐसा नहीं है कि कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे से मिलकर अपने में परिणति करता हो। हमारा जो भी यत्न हो रहा है वह हमारे अकेले में ही हो रहा है। और आप सबका यत्न आप सबमें अकेले में हो रहा है। यद्यपि इस जगह ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि हमारी बातों को सुनकर आप लोग अपने में ज्ञान बना रहे हैं और आप सबके उपस्थित होने से हम इस तरह से बोल पा रहे हैं, फिर भी हम आप लोगों में कुछ नहीं कर सकते और आप लोग मेरे में कुछ नहीं कर सकते। इस तरह जगत में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होने पर भी प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणति से अपना काम करता है। यह सब लोकव्यवस्था जानकर हमारा कर्तव्य यह होगा कि हम समस्त परवस्तुओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखें, किसी परपदार्थ के कर्ता न बनें कि मैंने इसे किया, मैं इसे कर सकता हूँ। आप यदि धनार्जन कर रहे हैं तो यह बात ध्यान में रखें कि इसे मैं नहीं कमा रहा हूँ, जिन जिनके उपयोग में यह लक्ष्मी आयगी उन सबके भाग्य के निमित्त से यह कमाई बन रही है, कोई यह मत समझे कि मैं इतने लोगों का पालन पोषण करता हूँ। अरे यह तो सबकी अपने-अपने भाग्य की बात है। परिवार में जो सबसे छोटा 2-4 साल का बच्चा है, जिसकी आप बड़ी-बड़ी सेवायें करते हैं और उसे खुश देखना चाहते हैं तो बताइये आपका भाग्य बड़ा है या उस बच्चे का? अरे भाग्य तो उस बच्चे का बड़ा है। आप सब तो उस बच्चे के नौकर बने फिर रहे हैं। पर आप कल्पना से मान लेते हैं कि मैं इस बच्चे का पालन पोषण कर रहा हूँ। अरे कोई किसी का कुछ करने वाला नहीं है, हम केवल अपने भाव भर बनाते हैं और उन भावों के अनुसार ही हम अपनी सृष्टि किया करते हैं। यहाँ कोई मेरा शरण नहीं, कोई मेरा रक्षक नहीं, यह बात चित्त में निर्णीत रखो।



**धर्मपालन के मानवजीवन—** भैया ! यह यत्न कीजिए, यह भाव बनाइये कि मेरी जो यह जिन्दगी है सो धर्मपालन के लिए है, मैं मनुष्य हुआ हूँ तो किसलिए हुआ हूँ? धर्मपालन के लिए। यह काम अन्य किसी भव में नहीं किया जा सकता। धन वैभव की बात तो यह है कि इससे लाखों गुना वैभव अनेक भवों में प्राप्त किया, परन्तु उससे फायदा क्या मिला? तो धन वैभव के पीछे अनेक प्रकार की चिंतायें करके इस मनुष्यजीवन को व्यर्थ में बिताने से फायदा क्या? यहाँ की यह लौकिक इज्जत भी व्यर्थ की चीज है। मैं इतने लोगों में अपना नाम कमा लूँ, इनमें अपनी इज्जत कमा लूँ। अरे यहाँ की मायामयी इज्जत में क्या धरा है? यहाँ के कुछ मोही जीवों ने कुछ स्वार्थ में आकर प्रशंसा कर दी तो उससे इस जीव को लाभ क्या मिल जायगा? अरे यहाँ की इज्जत में दम क्या? वास्तविक इज्जत तो यह है कि मैं अपने आपको निर्मल बनाकर प्रसन्न रहूँ। अपने आपमें विराजमान परमात्मा के दर्शन करके आनन्द प्राप्त कर लूँ, अपनी वास्तविक इज्जत तो ऐसा कार्य कर जाने में है। यहाँ धन वैभव आदिक बाह्यपदार्थों में अपना लगाव न रखें, यह मैं संसार में सबसे निराला अकेला ही जन्ममरण करता हुआ आज इस मनुष्यपर्याय में आया हूँ। यहाँ का प्राप्त समागम भी मिट जायगा। यहाँ के प्राप्त समागमों में क्या लगाव रखना? ऐसे विरक्त भावों से संसार में विरक्त होकर, शरीर से विरक्त होकर, भोगों से विरक्त होकर अपने आपकी जिन्दगी बितायें।

**धर्म की विशेषता से ही मानव जीवन की उपयोगिता—** गृहस्थों का दुकान, व्यापार आदि के कार्य करना गृहस्थी के नाते कर्तव्य है, लेकिन मैं इतना धन कमा लूँ, यह उनके हाथ पैर के श्रम पर आधारित नहीं है, जिन जिनके भोग में वह धन आयेगा उन सबके भाग्य से वह धन प्राप्त होता है। ऐसी सही जानकारी होने से चित्त में शान्ति रहेगी। अगर अज्ञान अंधकार है तब तो फिर वहाँ अशान्ति रहेगी। तो हम आप कुछ विवेक करें और अपना यह दुर्लभ मानवजीवन सफल करें। अपना जो करने का काम है उसमें हिम्मत के साथ बढ़ें। बहुत-बहुत कार्य किए, पर एक अपूर्व कार्य करके देखें कि धर्म में रुचि बढ़ायें, ज्ञानार्जन में प्रीति बढ़ाये, सत्संग में अपने तन मन को लगायें, एक नई दिशा में बढ़ें। इस मोह जाल में रह रहकर अपना जीवन बिता देने में कोई सार न मिलेगा। सार कहीं बाहर रखा है क्या? वह तो अपने अन्दर है। बाहर में जो चाहता है उसे कुछ नहीं मिलता। अपने-अपने अन्तः वैभव में ही प्रसन्न रहने में बड़ी विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। बाह्य समागमों में लगाव न हो, अपने स्वभाव के प्रति प्रीति जगे, इसमें ही एक सारभूत कदम होगा, और बाकी तो सब जैसा पशु पक्षी कर सकते हैं वैसा ही मनुष्यों ने भी किया तो यह मनुष्यभव पाने से लाभ क्या मिला? आहार, निद्रा, भय, मैथुन, मोह आदि के कार्य पशु पक्षी भी किया करते हैं और मनुष्य भी किया करते हैं। इन कार्यों में ही रत रहने में तो मनुष्यजीवन पाने का लाभ न उठाया जा सकेगा। एक धर्म ही ऐसा तत्त्व है कि जिससे यह भेद खुलता है कि यह मनुष्य है, पशु नहीं है। और धर्म ही अगर न रहे तो फिर क्या अन्तर बताने को रहेगा कि यह मनुष्य है या पशु? केवल इतना ही कह सकेंगे कि

इन पशुओं के तो सींग और पूंछ हैं, इन मनुष्यों के नहीं हैं। इतना ही भेद रहा, पर प्रकृति में क्या भेद रहा? तो धर्म ही एक ऐसी विशेषता है जिससे यह कहा जा सकेगा कि यह मनुष्य है, पशु नहीं है।

**धर्म में रुचि करने कराने से परिवार का हितमय वातावरण एवं शान्ति लाभ—** भैया ! धर्म में रुचि बढ़ाने का उत्साह रखें, घर के सभी लोगों को धर्मात्मा बनायें। इस मोह ममता में कुछ भी सार नहीं रखा है। इस मोह को ढीला करें। परिजन को समझायें कभी हमारा तुम्हारा वियोग तो होगा ही। हमारा आपका मरण तो एक दिन होगा ही। इस बात को अभी से अच्छी तरह चित्त में उतार लें तो फिर मरण समय में उतना अधिक खेद न होगा, क्योंकि तब यह प्रकाश रहेगा हम तो पहिले से ही यह जान रहे थे कि एक दिन मरण अवश्य होगा। तो परिवार के अन्दर रहकर समस्त परिजनों में ऐसा धार्मिक वातावरण पैदा करो जिससे कि सभी को धर्म करने की प्रेरणा मिले। कुटुम्ब में रहने का सच्चा फल यही है कि एक दूसरे को धर्मानुराग के लिए प्रेरित करें। एक दूसरे को धर्म में बढ़ायें। इस तरह की दृष्टि और यत्न करें तो वास्तविक परिजनता है अन्यथा तो दुश्मनी है। कोई घर में अच्छा बालक पैदा हुआ और दो चार माह बाद ही गुजर गया तो लोग कहते हैं कि वह तो पूर्वभव का दुश्मन था सो अपनी दुश्मनी अदा करने के लिए उत्पन्न हुआ था। मर गया तब कहते हैं कि दुश्मन था और जब जिन्दा है, जिसकी वजह से प्रेम, मोह उत्पन्न होता है तो क्या वह दुश्मन नहीं है? अरे यदि किसी जीव के द्वारा दूसरे की बरबादी हो रही है, विकार बढ़ रहे हैं तो वह दुश्मन ही तो है। इसी तरह हम यदि किसी को मोह में फंसा रहे हैं, विकार में बढ़ा रहे हैं, हमारी चेष्टा की वजह से दूसरे मोहांध बन रहे हैं, तो क्या हम उस जीव के दुश्मन नहीं बन रहे हैं? वस्तुतः तो कोई किसी का न दुश्मन है और न कोई किसी का मित्र है।

हमारे हितू- हमारा मित्र, मंगल, लोकोत्तम, शरणभूत तो बस ये चार ही तत्त्व हैं, जिनको हम आप देवदर्शन के समय बोलते हैं। अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवली पणत्तो धम्मो मंगलं, अर्थात् अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म- ये चार ही लोक में उत्तम हैं। या तो प्रभु या गुरु या खुद के स्वभाव का आलम्बन- ये तीन बातें यहाँ बतायी गई हैं। अरहंत और सिद्ध- ये दोनों ही प्रभु कहलाते हैं। जो प्रभु हो गए किन्तु अभी शरीर लगा हुआ है उनको कहते हैं अरहंत। और जब शरीर भी नहीं रहता तो उन प्रभु का नाम है सिद्ध। तो अरहंत और सिद्ध दोनों ही प्रभु हैं। अरहंत को कहते हैं सकलपरमात्मा याने साधु थे और शुक्लध्यान बना, भगवान बन गए। पर अभी शरीर है और वह शरीर हो जाता है अतिशयवान परमौदारिक। मगर शरीर तो शरीर ही है, शरीर सहित परमात्मा का नाम है अरहंत और जब शरीर नहीं रहता केवल आत्मा ही आत्मा रह गया उसका नाम है सिद्ध। तो ये दोनों प्रभु हैं। प्रभु की शरण और गुरु की शरण और अपने आपके धर्म की शरण, ये तीन ही तो बातें हैं। निश्चय से तो धर्म शरण है और व्यवहार से प्रभु और गुरु शरण हैं। सत्संग प्रभु और गुरु की भक्ति और अपने आपके धर्म की दृष्टि, धर्मपालन, इस तरह से

मुख्यतया जीवन चले तो यह पाया हुआ मनुष्य जीवन सफल हो जायेगा। यदि हम विषयों में, मौज में, परिग्रहों में, लगाव में ही चलते रहे तो जिन्दगी तो पर्वत से गिरने वाली नदी की तरह वेग से बढ़ रही है, गुजर जायेगी जिन्दगी। मरण के बाद कीड़ा मकौड़ा स्थावर कुछ भी बन गए तो फिर क्या वश चलेगा? इस कारण इस मनुष्य जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग करें, ज्ञानार्जन करें, सत्य श्रद्धा बनायें और अपने आपमें ही रमकर प्रसन्न होने की प्रकृति बनायें।

**निमित्त सन्निधान में विकार होने पर भी निमित्त का विकार के प्रति अकर्तृत्व—** लोक में जितने भी विकार विभाव परिणमन होते हैं उनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि निमित्त बिना ये विकार नहीं होते, फिर भी निमित्त विकार का कर्ता नहीं है। जैसे अनेक घटनायें देखी जाती हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की। घड़े को कुम्हार ने बनाया यों रूढ़ि में कहते हैं तो वहाँ क्या व्यवस्था है कि कुम्हार के व्यापार बिना घड़ा बनता नहीं है, इतने पर भी कुम्हार की अंगुली, कुम्हार का कुछ भी अंश घड़े में नहीं गया, अतएव कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है। घड़े का करने वाला जो परिणमन करे वह कर्ता कहलाता है। यही बात रागादिक भावों के सम्बन्ध में जानना। रागद्वेष कषाय ये कर्मोदय बिना नहीं हो सकते, फिर भी कर्मोदय रागादिक भावों का कर्ता नहीं है। स्थिति यह है कि कर्मों के उदय का निमित्तमात्र पाकर यह योग्य जीव जो रागादिक रूप परिणम सकता है उस प्रकार का मलिन हो वह रागादिक रूप परिणम जाता है, यह बात बताई जा रही है निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की। आश्रयभूत पदार्थ का कार्य के प्रति नियामकता नहीं है। बाहरी कारण दो प्रकार के होते हैं- एक निमित्तभूत और दूसरा आश्रयभूत। जैसे पुरुष ने पुत्र पर राग किया तो राग के होने में निमित्तभूत कारण है कर्म का उदय और आश्रय है पुत्र। यदि वही पिता मुनि हो जाय, परिग्रह का त्याग कर दे, उसके सामने वह पुत्र भक्ति करे तिस पर भी मुनि के राग नहीं होता। आश्रयभूत तो वही है, अब राग क्यों नहीं होता? तो उसका कारण यह है कि आश्रयभूत के साथ कार्य होने का नियम नहीं है। निमित्तभूत कारण का तो नैमित्तिक कार्य के प्रति अन्वयव्यतिरेक है, कर्मोदय होने पर ही राग होगा। कर्मोदय न हो तो राग न होगा।

**निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध और परिणमनस्वातन्त्र्य—** कोई एकान्त के आग्रही ऐसा कहकर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का लोप करना चाहते हैं कि जब पदार्थ में जो कार्य होना है उस समय वह कार्य होता ही है। वहाँ जो सामने हो उसे निमित्त कह देते हैं अथवा यह पूछा जाय कि निमित्त न हो तो कार्य न होगा, क्या यह बात नहीं है? तो कहते हैं कि ऐसा होता ही नहीं है। निमित्त भी होता ही है, कार्य होता ही है, तो वहाँ यह बात न कही जा सकेगी कि निमित्त न हो तो कार्य न होगा, कार्य होता ही है और निमित्त वहाँ हाजिर होगा। ऐसा कहकर अन्वयव्यतिरेक नहीं मिटाया जा सकता, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध की बात प्रकृतपक्ष में नहीं लगायी जाती, किन्तु विश्व की समस्त घटनाओं में लगायी जा सकेगी, याने क्या कहीं ऐसा देखा गया ना कि कर्मोदय न हो तो रागभाव नहीं होते। सिद्ध भगवान या अनेक गुणस्थानों में यह देखा जाता

है कि कर्मोदय न हो तो रागादिक नहीं होते। अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध की बात बाहर लगायी जाती है, उदाहरण में लिया जाता है और उन उदाहरणों से अन्वयव्यतिरेक जान करके प्रकृत पक्ष में निर्णय किया जाता है, ऐसी दर्शन शास्त्र की पद्धति है। ज्ञान 5 प्रकार के बताये गए हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान के भेद मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये बनाये गये हैं। इसमें जो तर्क नाम का प्रमाण है उसका यह कार्य है कि अन्वयव्यतिरेक की व्याप्ति का ज्ञान करावे। तो निर्णय यह रखना कि कर्मोदय का रागादिक भावों के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है। इतना सब कुछ जानकर भी परतंत्रता समझने की भूल न करना। प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी परिणति से स्वतंत्रतया परिणमता है अर्थात् निमित्त के सन्निधान में जो तदनुरूप रागरूप परिणमता है- जीव, सो वहाँ भी यह जीव ही परिणमता है, अपनी ही परिणति से परिणमता हैं और उसने कोई अपेक्षा भी नहीं की है, किन्तु सम्बन्ध ही ऐसा है कि यदि अमुक रागप्रकृति का उदय निमित्त हो तो जीव रागरूप परिणम जाता है, निमित्तनैमित्तिक भाव और पदार्थ के परिणमन की स्वतंत्रता दोनों का सही ढंग में परिज्ञान होना चाहिए।

**निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के परिणमनस्वातंत्र्य के अवगम से आत्मजागरण का दिग्दर्शन—** अब निमित्तनैमित्तिक भाव व परिणमन स्वातन्त्र्य के अवगम में शिक्षा की बात देखो- जब हम यह जान रहे हैं रागभाव कर्मोदय का निमित्त पाकर हुआ है तब इतनी यह शिक्षा बैठती है कि इस राग की हमारे स्वरूप में प्रतिष्ठा नहीं है। उस राग से परे केवल चैतन्य चैतन्यमात्र हूँ। केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। अतः रागादिक भावों में लगाव न करना, जीव विवश हो जाते है, अपने कषायभाव में लगाव रखने के कारण उन्हें सन्मार्ग नहीं सूझता और उस समय जो कषाय का आर्डर है उसके अनुसार ही चलना पड़ता है, किन्तु जिन्हें इस मर्म का भान है कि कोई भी पर या परभाव मेरे स्वरूप नहीं है, वे क्षुब्ध व विवश नहीं होते। कैसा भान सो सुनिये, कषाय विकार हैं और ये विकार मुझमें आये हैं मुझे बरबाद करने के लिए। जैसे छेवले आदिक के पेड़ में लाख लगती है तो उस पेड़ को बरबाद करने के लिए लगती है। यद्यपि वह लाख उस पेड़ से ही निकलती है, फिर भी उस पेड़ को सुखा देती है। यों ही मेरे आत्मा में से प्रकट हुए ये रागादिक विकार मेरे को ही बरबाद कर देते हैं। तो राग विकार हैं, परभाव है, औपाधिक है, उसका मेरे से सम्बन्ध नहीं अर्थात् स्वरूप नहीं। इसमें मैं तन्मय नहीं हूँ, ऐसा ज्ञान जगता है औपाधिक भाव की बात समझने में। अब परिणमन की स्वतंत्रता समझने में हमको क्या प्रेरणा मिलती है, सो भी सुनो। मैं ही स्वयं केवल अपनी परिणति से रागरूप परिणमता हूँ, कर्म की परिणति से नहीं परिणमता हूँ। यदि मैं कर्म की परिणति से रागरूप बनता होता तो इस राग को मिटाने का कोई उपाय न रहता, क्योंकि मेरे राग का बनाने वाला तो कर्म हो गया, अब कर्म तो बनेगा ही, उसमें मेरा पुरुषार्थ क्या चलेगा? तो कर्म रागरूप परिणति नहीं करता। मैं ही स्वयं स्वतंत्ररूप से अपने में रागरूपपरिणमन करता हूँ। इतनी बात अवश्य है कि वहाँ राग उदय का सन्निधान

पाकर रागपरिणमन करता हूँ फिर भी परिणमन स्वतन्त्रता से है। प्रकृत में यह कहा जा रहा है निमित्त बिना विकार होता नहीं और निमित्त विकार का कर्ता नहीं। यदि निमित्त बिना विकार का होना माना जाने लगे तब तो विकार स्वभाव बन जायगा। फिर उस विकार को दूर करने का मौका न मिलेगा, क्योंकि स्वभाव बन गया। स्वभाव की चीज दूर नहीं की जा सकती। इसी प्रकार यदि यह मान लिया जाने लगे कि निमित्त कारण होता है तो अब कर्म तो राग का कर्ता बन गया तो वह राग करेगा ही। इसमें उसका कोई निषेध न चल सकेगा। कर्म यदि राग कराता रहेगा तब तो फिर इस राग से मुक्ति न हो सकेगी। तो देखिये निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के अवगम से ज्ञानी स्वभाव की ओर चला और परिणमनस्वातन्त्र्य के अवगम से भी ज्ञानी स्वभाव की ओर चला। यह है राग को दूर करने की पद्धति।

**विभाव की परेशानी की स्वभावदृष्टि से समाप्ति—** आज सारा लोक परेशान है तो केवल रागद्वेष मोह भाव से। लोग कहते जरूर हैं कि मुझे इस बात की परेशानी है और वहाँ अनेक बातें दिखा देते हैं- मेरे पास मकान नहीं हैं इसकी परेशानी है, मेरा घर अधूरा है इसकी परेशानी है, मेरी दुकान ठीक नहीं चलती इसकी परेशानी है, अथवा मेरे पुत्र कहना नहीं मानते इसकी परेशानी है, यों लोग अनेक बातें दिखाते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि परवस्तु में जो मोह लगा रखा है उसकी परेशानी है। यदि एक बार भी समस्त पर से न्यारे सबसे विविक्त अपने केवल चैतन्यस्वरूपमात्र को अपना लें, मैं तो इतना ही मात्र हूँ, इससे बाहर मैं नहीं हूँ, न किसी बाहरी पदार्थ से मेरा सम्बन्ध है, कुछ प्रयोजन है, मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ और सत् के नाते से अपने स्वरूप में अपनी परिणति बनाता चला जाता हूँ, इससे बाहर मेरा लोक में कोई अधिकार नहीं है। यों अपने स्वरूप की बात समझकर कोई स्वरूप में रम जाय तो देखो सारी परेशानियाँ एक साथ समाप्त हो जाती हैं।

**परेशानी मिटाने की सहजकला—** बताते हैं कि यमुना नदी में कछुवों की बहुत ही अधिकता है। मान लो जैसे कोई यमुना नदी का कछुवा कुछ विश्राम करने के लिए अपने मुख की चोंच को पानी से बाहर निकालकर चल रहा है। अब उस कछुवे की चोंच को चूँटने के लिए सैकड़ों पक्षी उसके ऊपर मंडरा रहे हैं। वह बेचारा कछुवा दुःखी होकर यत्र तत्र भागता फिरता है, चारों दिशाओं में पलटता है, पर उसे बताने वाला कोई न मिला कि रे कछुवे तू व्यर्थ में क्यों दुःख उठा रहा है? अरे तेरे में तो एक ऐसी कला पड़ी है कि जिसका यदि उपयोग कर ले तो ये तेरी सारी संकट की बातें दूर हो जावें। वह उपाय यही है कि तू जल के अन्दर 8-10 अंगुल डुबकी लगा जा, फिर ये पक्षी तेरा क्या कर सकेंगे? लो इतनी कला खेल जाने भर में उस कछुवे के ऊपर आने वाले सारे संकट समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार हम आप समस्त संसारी प्राणियों के पीछे अनेक प्रकार की संकट की बातें लगी हुई हैं। तो ये सब संकट हम आपके पीछे क्यों लग रहे हैं? हम आप हैं तो ज्ञानसमुद्र, पर हम आप अपने उपयोग की चोंच को बाहर निकालकर अर्थात् अपने उपयोग

को बाह्य पदार्थों में लगाकर यत्र तत्र डोलते रहते हैं। हम सोचते हैं कि यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री, यह मेरा घर, यह मेरी इज्जत, ये मेरे मित्रजन। उनसे हम सुख शान्ति की आशा करते रहते हैं। यों अपने उपयोग को इन बाह्यपदार्थों में लगाते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे ऊपर अनेक प्रकार की विपत्तियाँ छा जाती हैं, अनेक लोग मुझे सताने वाले हो जाते हैं। कहीं परिजनों ने सताया, मित्रों ने सताया, सरकार ने सताया, बंधुवों ने सताया, रिश्तेदारों ने सताया। सभी लौकिकवैभव लूटने के लिए विकल हैं और अपने आपकी कल्पनायें जब हम बढ़ाते हैं। मुझे पब्लिक ने सताया, इतने लोगों में मेरी निन्दा कर दी गई, अमुक ने मुझे गाली दे दी- यों अनेक प्रकार की बातें सोच-सोचकर हम मन में भी रात दिन दुःखी होते रहते हैं, यों अनेक प्रकार के उपद्रव हमारे ऊपर आते रहते हैं। जब तक हम इस ज्ञानसमुद्र से अपने उपयोग की चोंच को बाहर निकाले हुए यत्र तत्र डोलते रहते हैं तब तक अनेक संकट हमारे ऊपर मंडराते रहते हैं, पर हे आत्मन् ! तेरे में तो वह सहज कला है कि तू लीला मात्र में अपने ऊपर आने वाले समस्त संकटों से बच सकता है। तू तो व्यर्थ ही परेशान हो रहा है। तेरे में तो वह ऐसी सहज कला है कि क्षण भर में ही समस्त परेशानियों को एक साथ समाप्त कर सकता है। तेरी वह कला क्या है? वह कला यही है कि तू अपने उपयोग को, अपने चिन्तन को जो अपने स्वरूप से बाहर करके यत्र तत्र लगा रहा है उसको तू भीतर में ला और अपने ज्ञानसागर में उस उपयोग को डुबो दे तो फिर तेरे ऊपर कोई भी उपद्रव न रहेगा। वे हजारों लाखों परेशानियाँ एक साथ समाप्त हो सकती हैं। तो यह सारा जगत जितना परेशान है, वह रागभाव से परेशान है, उस रागभाव के मेटने पर सारी परेशानियाँ समाप्त हो जाती हैं।

**रागभावमेटने के उपाय में—** भैया ! रागभाव कैसे मिटे? उस उपाय के उपयोग में अधिकाधिक अपना समय लगायें, तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर हो जायें, मुझे अपने स्वरूप का भान होता है तो हमने सब कुछ पाया, खोया कुछ नहीं। अपने आपके स्वरूप को भूलकर अपने धर्म को त्यागकर, अपनी ईमानदारी को खोकर यदि कुछ धन वैभव भी कमा लिया तो भी सब खोया ही समझिये। पाप के उदय में तो दुःख मिलेगा। यदि पाप का आस्रव है, पाप के परिणाम हो रहे हैं तो अन्य विपत्तियाँ मिल रही हैं, अथवा आपने किसी को धोखा देकर कुछ वैभव बढ़ा लिया तो उससे कुछ प्रयोजन न सिद्ध होगा, क्योंकि पाप का उदय आयेगा तब आपको अनेक गुना दुःखी होना पड़ेगा। यदि पाप रुक गया, पाप का आस्रव नहीं हो रहा तो अन्य सम्पदा का प्रयोजन ही क्या है? मत आये वैभव। मेरा क्या नुकसान है। मैं तो अपने पवित्र परिणाम में रह रहा हूँ, अपने आत्मा में अपने सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन कर रहा हूँ। मैं तो प्रसन्न हूँ, यह लौकिक वैभव क्या है? प्रकट पुद्गल के ढेर हैं, डले हैं, इससे मेरे आत्मा की शान्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा शान्ति प्राप्त कर सकेगा तो तत्त्वज्ञान के बल से शान्ति प्राप्त कर सकेगा। अन्य कोई भी उपाय आप कर डालें, शान्ति नहीं मिल सकती। जो लोग धनार्जन में या अन्य विकल्पों में निरन्तर चित्त दिए हुए हैं उनको

शान्ति नहीं है। हालांकि धन से अशान्ति नहीं होती, न धन से शान्ति होती, धन धन में है लेकिन हम शान्त अशान्त होते हैं अपने भावों से। जब व्यर्थ के ख्याल बना लेते हैं तो अशान्त हो जाते हैं और जब अपने निर्विकल्प ज्ञायकस्वभाव अपने स्वरूप की ओर दृष्टि करके उसका ख्याल करते हैं तो शान्त हो जाते हैं। यों तो चक्रवर्ती छः खण्ड के राज्य का अधिपति होता है, 32 हजार मुकुटबद्ध राजा जिसके चरणों में नमस्कार करते हैं, जिसकी सेना का, जिसके वैभव का कोई पार नहीं है, बहुत है, इतने पर भी ज्ञानी चक्रवर्ती है तो किसी भी वैभव से उसे अशान्ति नहीं है। वह अपने आपमें प्रसन्न रहता है। उसे साहस है और यदि अज्ञानी भिखारी भी है, इधर उधर से भीख मांगकर खाता है, देखने में तो लगता है कि उसके पास कुछ भी वैभव नहीं है, टूटी-फूटी झोंपड़ी है लेकिन वह कितना दुःखी है और कितना परेशान है, कितना परिग्रही है कि चित्त में वह सर्व कुछ चाह रहा है और उदय ऐसा है कि उसे मिलता कुछ नहीं। तो धन का मिलना शान्ति अशान्ति का कारण नहीं। शान्ति का उपाय तो तत्त्वज्ञान है, वैराग्य भाव है।

**ज्ञान और वैराग्य के अर्जन व वर्द्धन में हित का लाभ—** ज्ञान और वैराग्य ये दो हम आपकी वास्तविक निधियां हैं, इनमें फर्क न डालें। ज्ञान और वैराग्य में रुचि बढ़ायें, अन्य सब बातें जो होनी हैं, जिस तरह होनी हैं वे होती ही रहती हैं। जो होता है होने दो, ज्ञाता द्रष्टा रहो, सब कुछ भले के लिये ही हो रहा है। अगर ठीक विचार हो तो आप इस निर्णय पर रहेंगे कि कोई अगर आपत्ति है तो वह भी भले के लिए है। कोई भी स्थिति है वह भी भले के लिए है। मेरा वहाँ क्या बिगाड़? मैं अपने स्वरूपमात्र हूँ और यह ही मेरी दुनिया है। इसका कोई विघ्न कर सकने वाला नहीं है, मेरा विघ्न करने वाला तो मैं ही खुद हूँ। जब ज्ञानभाव को छोड़कर अज्ञान में आ जाता हूँ तो अपना बिगाड़ मैं ही खुद कर लेता हूँ। तो अब अपना निर्णय बदल लें। और प्रारम्भ से लेकर अब तक जिस फँसाव में रहे हैं उसे समझें कि यह फँसाव मेरे हित के लिए नहीं है। उम्र बीती जा रही है, मरण के दिन निकट आ रहे हैं। अब उस समय आपकी ये कषायें क्या काम देंगी? जितना शान्ति का जीवन बिता सकें, जितना ज्ञानचर्चा में, संयम में, सत्संग में, साधुसंग में समय बिता सकें, वह तो आपको आगे काम देगा और यहाँ का धन वैभव या अन्य अन्य प्रकार की बातें काम नहीं दे सकती- यह निर्णय बनाना है और यह निर्णय करके फिर आपका जो सत्पथ है उसमें लगना है।

**धर्ममार्ग की समस्या का स्वयं से समाधान—** एक परेशानी धर्ममार्ग में मनुष्यों को यह भी आ रही है कि यदि कोई मनुष्य धर्म की बात, रहस्य की बात हृदय से चाहता है, और वह निष्पक्ष भी है, लेकिन उसे मार्ग सही नहीं मिल पाता, क्योंकि सभी मजहब के लोग अपने धर्म की बातों की बड़ी तीव्र पुष्टि करते हैं। कोई ऐसा माने जैसा मेरे धर्म में कहा गया है तो वह तो सम्यग्दृष्टि है और यदि वैसा नहीं मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है, नास्तिक है, काफिर है। तब फिर जो धर्ममार्ग में निष्पक्ष मार्ग में आना चाहता है वह संशय में पड़ जाता है कि किस मार्ग में चलें, क्योंकि सभी लोग अपने-अपने मजहब की (धर्म की) बातों की पुष्टि कर

रहे हैं। उस संदेह को मेटने का उपाय है तत्त्वज्ञान। तत्त्वज्ञान करें। सब लोगों की बातें समझकर अपने आप परीक्षा कर लेंगे कि वास्तविक मार्ग क्या है? किन्तु जिनको इतनी फुरसत नहीं है अथवा जिनके इतना विशेष क्षयोपशम नहीं है वे यदि एक उपाय काम में लावें तो वे अपनी समस्या हल कर सकते हैं। वास्तविक शान्ति का उपाय क्या है? वह क्या उपाय करें, यह जानकर कि जब बाहर सभी फुसलाने वाले हैं तो मुझे किसी की बात नहीं मानना है और इसके साथ ही साथ यह जब हमने जान लिया है कि घर में, राग में, मोह में कुछ सार नहीं है तो किसी बात का हमें मोह और राग भी नहीं रखना है। मुझे किसी भी परवस्तु का राग नहीं रखना है और किसी की भी शिक्षा की बात नहीं मानना है। चलो दोनों बातों पर अटल रह जायें तो यह सब स्थिति बनेगी कि चित्त में कोई भी बाह्य पदार्थ न रहेगा। क्योंकि वह निर्णय करके बैठा है कि मुझे किसी भी परपदार्थ में राग नहीं करना है तो कोई भी परपदार्थ जब दिल में न रहेगा तो यह दिल परपदार्थ की छाया से रहित हो गया, ऐसी स्थिति में यह ज्ञान केवल जब ज्ञान के लिए रह गया, बाह्यपदार्थों के राग का अवसर हीन रह गया, किसी आश्रयभूत बाह्यपदार्थ को हृदय में ही न जमाया तो इस स्थिति में स्वयं यह ज्ञानोपयोग अपने ज्ञानस्वभाव को छू लेगा, उसका भान कर लेगा। ऐसी स्थिति आयेगी। वह अपने अन्तरात्मा से यह हल कर लेगा कि इस तरह की स्थिति बनाने में शान्ति मिलती है। भले ही वह उसके शब्दों का विवरण न कर सके, मगर पूर्णतया समझ जायेगा बड़े प्रामाणिक ढंग से कि यह स्थिति शान्ति का उपाय है और बाकी बाह्य में अपने उपयोग को फंसाना यह शान्ति का उपाय नहीं है।

**निमित्त बिना विकार का अभवन तथा निमित्त का अकर्तृत्व इन दोनों तत्त्वों का स्पष्टीकरण—** निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के विषय में स्थूल रूप से यह बात जानें कि विकारभाव निमित्त के सन्निधान बिना नहीं होते, तिस पर भी निमित्त विकारभाव का कर्ता नहीं है। निमित्त सन्निधान बिना नहीं होता। इसका भाव यह है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्त पाकर उपादान स्वयं की परिणति से अपने में अपना प्रभाव बना लेता है, पर उपादान में अपना वह प्रभाव बनाने के लिए निमित्त का सन्निधान निमित्त होता है। निमित्त विकार का कर्ता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि निमित्तभूत कर्मोदय कर्म की अवस्था है, वह कर्म में है, कर्म से बाहर कर्म की कोई चीज निकलकर आत्मा में जाती हो या कर्म की परिणति से आत्मा रागी बनता हो सो यह बात नहीं है, किन्तु कर्मोदय का निमित्त पाकर स्वयं अपनी परिणति से रागरूप परिणमता है। तब निमित्त का तो सन्निधान मात्र ही काम है, इसके आगे निमित्त का अन्य में कुछ काम नहीं है। उसका कार्य उसमें ही होता है, इस कारण निमित्त विकार का कर्ता नहीं है।

**निमित्त बिना विकार के अभवन का विवरण—** अब प्रश्नोत्तर करके इन बातों को समझिये- कोई कहे कि जब योग्य उपादान है और उसका परिणमन होता है, उसकी ही परिणति से होता है, विकारभाव की बात कह रहे हैं- आत्मा में राग जगा, आत्मा की परिणति से राग जगा, कर्म की परिणति नहीं है वह राग, तब



निमित्त बिना राग होता है यह मान लेने में क्या हानि है? निमित्त बिना ही तो हुआ। निमित्त निमित्त में है और यह उपादान आत्मा अपने आपमें है और उसका राग परिणमन स्वयं में होता है, तब निमित्त बिना होता है विकार, यह मान लेने में क्या हानि है? समाधान यह है कि बात यद्यपि यह सत्य है कि कर्म की परिणति से नहीं है वह राग। वह राग है आत्मा की परिणति से और उसका अंतरङ्ग करण आत्मा ही है, साधन आत्मा ही है। आत्मा के परिणमन से हुआ है लेकिन निमित्त सन्निधान बिना विकार हुआ हो अर्थात् निमित्त का सन्निधान न हो तब भी हो जाता है। हो सकता है, निमित्त के सन्निधान की वहाँ आवश्यकता नहीं हो या निमित्त का सन्निधान पाये बिना उपादान ने अपना विकार प्रभाव बना लिया हो तो उसका अर्थ यह होगा कि रागभाव अनैमित्तिक हो जायेगा। तब आत्मा में जैसे ज्ञान दर्शन आदिक भाव अनैमित्तिक हैं और स्वभाव हैं, इसी प्रकार रागादिक भी अनैमित्तिक होने के कारण स्वभाव बन जायेंगे। जब स्वभाव बन गए विकार, तो विकारों का कभी नाश न हो सकेगा और जब विकार नष्ट न होगा तो मोक्ष भी नहीं बनेगा। फिर धर्मव्यवहार किसलिए हो?

**निमित्त के अकर्तृत्व का विवरण—** अब इस प्रसंग में दूसरी जिज्ञासा यह की जा सकती है कि तब तो निमित्त कुछ करता है- यह मान लेना चाहिए। जब कर्मोदय का निमित्त पाकर आत्मा में रागविकार होता है तब यह मान लेना चाहिए कि निमित्त ने राग किया है। इसके समाधान में संक्षेप में यह समझिये कि यदि यह मान लिया जाय कि निमित्त ने राग परिणति की है तो इसका अर्थ यह है कि निमित्त ने अपना भी काम किया और दूसरे पदार्थ का भी काम किया और वह काम होगा समान रूप से, अर्थात् जैसे निमित्तभूत कर्म ने अपनी परिणति से अपने आपमें अपनी विपाक दिशा बनायी, इसी प्रकार निमित्तभूत कर्म ने आत्मा में भी अपनी परिणति से रागदशा बना दी, तो एक पदार्थ दो क्रियाओं का कर्ता बन गया और जो ऐसा माने कोई एक पदार्थ दो पदार्थों की क्रिया करता है तो वह मिथ्याबुद्धि है। ऐसा मानने पर फिर दूसरे पदार्थ का अभाव हो जायेगा। निमित्त ने अपना भी किया काम, उपादान का भी काम किया, तो उपादान तो निष्क्रिय हो गया और जो निष्क्रिय हो वह असत् है। जिसमें खुद की परिणति नहीं है वह पदार्थ नहीं कहला सकता। यों दोनों का ही अभाव हो जायेगा, द्रव्यव्यवस्था फिर नष्ट हो जायेगी। इस कारण से न तो यह एकान्त करना है कि निमित्त बिना होता है, न यह एकान्त करें कि निमित्त कुछ करता है। वहाँ स्थिति ऐसी है कि विकार निमित्त के सन्निधान बिना नहीं होता, तिस पर भी निमित्त उसका कर्ता नहीं है।

**व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहने का आशय—** अब कुछ ऐसी जिज्ञासा की जा सकती है कि निमित्त को कर्ता मानने की रूढ़ि है। कुम्भकार ने घड़ा बनाया, जुलाहे ने कपड़ा बनाया आदि कितने ही इस प्रकार के व्यवहार चलते हैं तो निमित्त कर्ता भी तो एक दृष्टि में कुछ चीज है? हाँ है, व्यवहार दृष्टि में निमित्त कर्ता की बात कही जाती है। परमार्थदृष्टि से, परमार्थनय से वस्तु के स्वरूप को वस्तु में निरखा जाता है और

उपचार और व्यवहार एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में सम्बन्ध दिखाता है और एक पदार्थ के निमित्त से हुए नैमित्तिक कार्य को निमित्त कहा जाता है। किसी की परिणति किसी दूसरे की कह दी जाय, यह एक उपचार की बात है, पर परमार्थतः वस्तु के स्वरूप में यदि निरखा जाय तो जो परिणमता है वह कर्ता होता है। जो अवस्था है वह उसका कर्म है। जो परिणति है वह क्रिया है। तो वस्तुतः परमार्थदृष्टि से कर्ता, कर्म, क्रिया ये तीन भाग नहीं होते। देखिये- कर्ता कर्म क्रिया की बात भेद में भी होती है और अभेद में भी होती है। जैसे साँप ने अपने शरीर को गोल बना लिया, (जिसे कहते हैं कुण्डली बना ली) तो साँप ने क्या काम किया? अपना ही काम किया और साँप ने किसकी मदद से अपनी कुण्डली बनायी? अपने ही साधन से और साँप ने क्रिया क्या की? तो अपने आपकी ही क्रिया की। तो जैसे साँप ने अगर अपनी कुण्डली बना ली, साँप स्वयं गोलमटोल बन गया तो वहाँ कर्ता कर्म क्रिया एक पदार्थ में आ गये और जैसे कहते हैं कि मैंने कलम से इस कापी को लिखा तो कापी भी अलग, कलम भी अलग। तो यहाँ भेद में कर्ता कर्म की बात कही जाती है। जैसे कहते हैं कि कुम्हार ने दंड चक्र से घड़ा बनाया तो वह कुम्हार ने दंड चक्र से घड़ा बनाया तो वह कुम्हार अलग है, दंड चक्रादिक की क्रियायें अलग हैं, घड़ा बनाना भी अलग है। तो यहाँ भेद में कर्ताकर्मक्रिया का प्रयोग होता है। जहाँ भेद में कर्ताकर्म बताया जाय वह है व्यवहारदृष्टि, जहाँ अभेद में कर्ताकर्म बताया जाय वह है अभेददृष्टि। अभेददृष्टि वस्तुगतदृष्टि है, अभेददृष्टि सम्बन्धकृतदृष्टि है।

**वस्तुतया कर्ता कर्म क्रिया की एकवस्तुगतता—** वस्तुतः जो परिणमन करे वह कर्ता, जो अवस्था बनी वह कर्म और जो परिणति हुई वह क्रिया है। ये तीनों के तीनों परमार्थतः भिन्न नहीं हैं। एक ही वस्तु में घटित होते हैं। अब यही बात अशुद्ध परिणमन में घटा लें तो घटित हो जायगी, और एक स्वपरिणमन शुद्ध अशुद्ध विकल्प को छोड़कर वस्तु में वस्तुत्व के नाते जो स्वयं अगुरुलघुत्व के कारण परिणमन है उसमें भी घटित हो जायगी। जैसे जीव ने राग किया तो रागपरिणमन का कर्ता कौन हुआ, जो परिणमा वह। कौन परिणमा? यह विकारी जीव। और उस विकारी जीव के उस समय की अवस्था है राग परिणाम, वह हुआ कर्म और उसमें जो परिणति हुई, एक रज्यमानरूप से जो परिणमन चला वह क्रिया है। तो यहाँ भी परद्रव्य के साथ कर्ताकर्मक्रिया का सम्बंध नहीं रहा। वस्तुत्वदृष्टि से देखा जा रहा है। व्यवहारदृष्टि तो दो द्रव्यों को निरखकर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध आदिक को चित्त में रखकर कथन करती है, और निश्चयदृष्टि अन्य बात की अपेक्षा न रखकर केवल एक पदार्थ में जो है उसका ही कुछ हो रहा वर्णन करती है। जब यह जीव शुद्ध परिणमता है, केवलज्ञानरूप बन गया, केवलज्ञानी बना हुआ है, केवलज्ञानपरिणमन का कर्ता कौन है? वही परमात्मद्रव्य जो केवलज्ञानरूप परिणम रहा है और कर्म क्या है? यहाँ पर विभावों रूप परिणाम, केवलज्ञानरूप भाव, वह उसका परिणमन है। यों आत्मा का वह क्षायिकज्ञान के साथ कर्ताकर्मक्रिया सम्बंध नहीं है, किन्तु स्वभावपरिणमन के साथ कर्ताकर्मक्रिया का सम्बंध है।

**शिक्षाग्रहण का उद्देश्य रहने पर विवाद की समाप्ति—** व्यर्थ ही लोग कुछ अपने जीवन का उद्देश्यचर्चा बनाये रखते हैं, अरे उस चर्चा से हमें कुछ अपने में शिक्षा लेना है। यदि यह बात चित्त में आ जाय तो एक बच्चे की बात से भी शिक्षा मिल सकती है, किसी के भी कथन से हमें शिक्षा मिल सकती है। जो एकदम विपरीत बात हो उसकी बात तो अलग है, मगर बच्चे के बोलने में भी हमें बहुत से हितमार्ग में चलने की प्रेरणा मिल सकती है। तो जो लोग ऐसा मानते हैं कि निमित्त पाकर रागादिक विकार होते हैं तो इससे भी हम शिक्षा ग्रहण करें कि ये विकार निमित्त पाकर हुए हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। और जो यह कहते हैं कि स्वकाल में राग होता है तो वहाँ देखा गया एक ही पदार्थ को। वह पदार्थ है, प्रतिसमय परिणमता रहता है, तो अपने काल में अपनी अवस्थारूप परिणम गया। एक को ही देखा, ऐसे एक को ही देखने में जब आश्रयभूत पदार्थ पर उपयोग नहीं रहा तो यह राग सूख जायगा। फिर आगे राग न रहेगा। तो इस बात पर दृढ़ रहें कि हम एक पदार्थ को निरखकर बात कर रहे हैं। एक पदार्थ को निरखने की दृष्टि बनाये हैं और निमित्त की चर्चा उठाएँ कि निमित्त है अथवा नहीं, सो है रूप से भी चर्चा करना गलत है और नहीं रूप से भी चर्चा करना गलत है। कब? जबकि तत्त्व को एक अभेद दृष्टि में निरखा जा रहा है। तो वस्तुतः जो परिणामा सो कर्ता, जो परिणाम हुआ सो कर्म, जो परिणति हुई वह क्रिया कहलाती है।

**सहज स्वपरिणमन की दृष्टि के कर्ताकर्मक्रिया का कथन—** अब जरा सहजस्वपरिणमन की दृष्टि से निरखिये- प्रत्येक द्रव्य अपने भवनरूप परिणमता है याने क्या बनता है? जो उसमें है सो होता है। देखिये करने की बात तो कहीं भी नहीं है, होने की बात सब जगह है। करने की बात तो एक भाव को समझने के लिए बनाई हुई बात है। होने की बात सब जगह है। जहाँ निमित्त पाकर विकार हुआ वहाँ यह कहना कि निमित्त पाकर इस आत्मा में रागपरिणमन हुआ। करने की बात क्या आयी? बात जैसी है वैसी कही जा रही है। अमुक का निमित्त मिला और यहाँ रागपरिणमन हुआ। जैसे यों कह देते कि चौकी ने मुझे बैठाल दिया। बैठाल देने की बात कहते तो हैं, मगर करने की बात कहाँ है? उस चौकी का आश्रय करके अपने में अपनी परिणति से मेरे बैठने की बात बन गई। तो हर जगह आप यही बात देखेंगे कि होने-होने का तो आप सब कुछ वर्णन कर जायेंगे, पर करने की बात कहकर सब वर्णन हो सकेगा। तो हुआ क्या कि जीव में जो कुछ स्व है उसका भवन बन रहा है बस उसका वह कर्ता है, और जो स्वभाव है, स्व का हुआ है वह कर्म है, जो स्व के भवनरूप क्रिया है वह कर्म है। अब आत्मा पर घटा लो। सभी पदार्थों में शुद्ध अगुरुलघुगुण का परिणमन चलता है। वस्तु में वस्तुत्व के नाते से प्रति समय षड्गुण हानि वृद्धि होती है। अगुरुलघुगुण का परिणमन निरन्तर होता है और वही एक माध्यम है कि जिसके साथ मिलकर विभाव और स्वभाव परिणमन व्यक्त हो जाया करते हैं। तो कहते हैं अगुरुलघुगुण की वृद्धि हानि में जो कुछ होता है उस परिणतिरूप वह क्रिया है। अब देखिये- धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य की भी तो चर्चा आती है। ये भी पदार्थ हैं,

ये भी प्रति समय परिणमते रहते हैं। अब जरा धर्मद्रव्य के परिणमन की बात बताओ। धर्मद्रव्य किस-किस रूप में परिणम जाता है? व्यक्तरूप आप कुछ न बता पायेंगे। मगर चूंकि वह द्रव्य है, सत् है तो नियम से प्रति समय परिणमन करता है। उसका परिणमन स्वाभाविक परिणमन है और वहाँ षड्गुण हानि वृद्धि चल रही है। तो अगुरुगुण के कारण धर्मादिक द्रव्यों का परिणमन चलता है। ठीक इसी भांति सिद्ध भगवान का भी अगुरुलघुगुण के कारण परिणमन चलता रहता है।

**शुद्धपरिणमन की अनैमित्तिकता—** कहते हैं कि केवलज्ञान क्षायिक भाव है, केवल ज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न होता है, ठीक है, मगर केवल ज्ञानावरण का क्षय होना एक समय की बात है या अनन्तकाल तक होता रहता है। वह तो एक समय की बात है। जिस समय केवलज्ञानावरण का क्षय हो रहा है उस समय जो केवलज्ञान हो वह तो क्षायिकभाव है, पर केवलज्ञान होने के बाद अनन्तकाल तक केवलज्ञान केवलज्ञान होता चला जायेगा यह परिणमन बराबर चलता रहेगा तो उन परिणमनों का कारण ज्ञानावरण का क्षय नहीं है। अब तो धर्मादिक द्रव्यों की तरह अपने ही स्वभाव से, अपने ही स्वरूप से, अगुरुलघुगुण के निमित्त से शुद्ध परिणमन चल रहा है। लेकिन सामान्यतया यह कहा ही है कि केवलज्ञान क्षायिक भाव है और वहाँ यह अन्तर न डाला जाता कि वर्तमान समय में हुआ केवलज्ञान क्षायिक है और अगले समय में जो केवलज्ञान होता है वह वस्तु में स्वाभाविक है। यह अन्तर न डालकर सामान्यरूप में कह देते हैं, उसका भाव है कि उस परम्परा को भी ध्यान में रखना है कि जब भी यह केवलज्ञान हुआ था तब केवल ज्ञानावरण के क्षय से हुआ था। अतएव केवलज्ञान क्षायिकभाव है, ऐसा सामान्यरूप से कहते हैं, लेकिन व्यक्तिगत विशेष परिणति पर दृष्टि रखकर यदि कहा जाय तो जो क्षय का समय है उस समय हुआ केवलज्ञान क्षायिक भाव है। बाद में तो जैसे धर्म, अधर्म द्रव्य परिणमन कर रहे हैं, उन परिणमनों को हम क्षायिक तो नहीं कहते। उन परिणमनों को हम किसी निमित्त उपाधि में मिलाकर नहीं कह सकते। वह है और स्वभाव से है। इसी प्रकार सिद्ध भगवान में जो अब शुद्ध परिणमन निरन्तर चल रहा है। यह स्वभाव से है।

**जीवत्व की सर्वजीवों में समानता—** सब प्रकार तत्त्व जानकर हमको अपने आपमें यह श्रद्धा लेनी चाहिए कि मैं भी जीवद्रव्य हूँ, वैसा ही हूँ जैसा कि सिद्ध भगवान का जीवद्रव्य है। एक जाति वाले द्रव्य में जरा भी न्यूनता और अधिकता की बात नहीं आती। जीवद्रव्य के नाते से हम अपनी हीनाधिकता की तो बातें क्या कहें, सिद्ध में भी और अभव्य में भी हीनाधिकता की बात नहीं कही जा सकती है। अगर जीवद्रव्य के नाते से जीव में भव्य में अभव्य में यदि कोई अन्तर होता तो द्रव्य 6 न कहकर 7 कहना चाहिए था- भव्यजीव, अभव्यजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, लेकिन ऐसा तो नहीं है। द्रव्य 6 जाति के हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, तो जीव जाति में जितने पदार्थ आये उनमें अभव्य भव्य नहीं छूटे। तो जिस जाति की अपेक्षा से जीव कहा गया है उस अपेक्षा से सब समान है और इस दृष्टि से

जीव में चेतना, चेतनशक्ति, जितनी शक्ति भव्य में है उतनी ही शक्ति अभव्य में है, उतनी ही शक्ति सिद्ध में है। अनादि अनन्त सर्व अवस्थाओं में जीव में उस शक्ति की अपेक्षा से जिसकी दृष्टि में जीवद्रव्य जाति बनायी गई है सब समान हैं। जो यह वर्णन आता है कि अभव्य जीव में सम्यक्त्व की कैवल्य की शक्ति नहीं है, सो यह बात नहीं है। अभव्य में भी केवलज्ञान की, केवल रहने की और सम्यक्त्व की शक्ति सबमें है, पर उन शक्तियों के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है, इस दृष्टि से भव्य और अभव्य में भेद होता है। अगर शक्ति का अभाव किया जाय तो बतलाओ कि अभव्य जीव कितने ज्ञानावरणकर्म का बंध करते हैं। ज्ञानावरण के 5 भेद हैं- मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। करणानुयोग के शास्त्रों में वर्णन आता है कि अभव्य जीव के भी 5 ज्ञानावरणों का बंध है- केवलज्ञानावरण का अर्थ है जिसके उदय के निमित्त से केवलज्ञान न उत्पन्न हो सके। अरे तो ऐसा केवलज्ञानावरण का बंध पुद्गल के भी कर दें चौकी, भीत आदिक के, क्योंकि केवलज्ञानशक्ति अभव्य में नहीं है और फिर भी केवलज्ञानावरण बंध रहे तो केवल ज्ञानावरण शक्ति भीत में भी नहीं, वहाँ भी केवलज्ञानावरण बंध जाय। केवलज्ञानावरण का बंध होना यह सिद्ध करता है कि अभव्य में केवलज्ञान शक्ति है, तब वहाँ केवलज्ञानावरण का आस्रव बंध है, किन्तु केवलज्ञान के व्यक्त होने की शक्ति अभव्य में नहीं है। बात यहाँ यह बताई जा रही है कि जीवत्व के नाते से आत्मा और परमात्मा में अन्तर नहीं है।

**परमात्मभक्ति में शुद्ध आशय—** जब हम परमात्मभक्ति करते हों तो हमको मुख्यता देनी चाहिए जाति की, स्वभावदृष्टि की। हम स्वभाव की परख करें। यद्यपि हम भगवान के अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चतुष्टय पर दृष्टि देते हैं, वह भी हितकारी है, क्योंकि वह स्वभाव परिणमन है, स्वभाव परिणमन के माध्यम से हम स्वभाव की परख जल्दी कर लेते हैं। जैसे ठंडे जल का स्वभाव ठंडा है, यह बात हम शीघ्र ही समझ जाते हैं और गर्म जल का स्वभाव ठंडा है यह बात हम देर में समझ पाते हैं, इसी प्रकार विभावपरिणाम से परिणमते हुए जीव में इसका स्वभाव चैतन्यमात्र है, यह हम देर में समझ पाते हैं और शुद्ध परिणम रहे परमात्मा को निरखकर इसका स्वभाव शुद्ध चैतन्यस्वरूप है यह जल्दी समझ में आता है। तो यों जब हम जीवत्व जाति से निरखें तो अपने आपमें गौरव अनुभव करें, अपने आपमें अपने वैभव का अनुभव करें, मैं ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। अरे कहाँ तो मेरा यह स्वरूप है जहाँ विकार नहीं, जहाँ रोग, शोक, चिन्ता नहीं और अपने आपके इस स्वरूप को भूलकर हम कितना अज्ञान अंधेरे में आ गए हैं। किन्तु इन बाह्यपदार्थों को व्यर्थ ही अपना लिया है, कितनी चिन्ताओं का हमने अपने पर बोझ डाला है, सब व्यर्थ की बातें हैं। यह मैं तो सबसे निराला केवल चैतन्यमात्र हूँ यह दृष्टि जगनी चाहिए। किन्हीं भी कथनों को सुनकर अपने स्वभाव की ओर आना चाहिए। यही धर्मपालन की पद्धति है।

**ज्ञानी का प्रति परिस्थितियों में ज्ञातृत्व—** किसी भी पदार्थ के रहस्य को समझने के दो मार्ग होते हैं। एक तो स्वयं में क्या बीतती है- यह निरखना, दूसरे स्वयं में जो विकार बना है वह किस परिस्थिति में बना है, यह निरखना। इन स्थितियों का निरखना व्यवहारनय से है और एक वस्तु में उसी का कुछ निरखना निश्चयनय से होता है। तो जब हम एक वस्तु में ही देखते हैं तो उसमें जितने भी परिणमन होते हैं वे होंगे। कुछ भी हो, जब जो होगा सो होता ही है और उस समय जिन निमित्तों की स्थिति में होगा वह निमित्त भी निश्चित है। अब ज्ञानी पुरुष तो उपेक्षाभाव रखकर उन सम्पर्कों में रहता है और अज्ञानी नाना विकल्प करके क्षुब्ध होता है, कितने ही जीव गई बीती बात पर बहुत समय तक शोक ही किया करते हैं। यदि ऐसा किया होता तो यों हो जाता। में चूक गया, यों कर लिया होता तो यों होता। अरे जो बात गुजर गयी वह बात वापिस नहीं हो सकती। जैसे जो उम्र गुजर गयी वह उम्र वापिस नहीं आ सकती, इसी तरह जो बात गुजर चुकी वह वापिस नहीं हो सकती। इसीलिए यह सावधानी रखनी चाहिए कि हमसे कोई अनर्थ कार्य न बने, कोई ऐसे अहितकारी वचन न निकलें कि जिससे दूसरों का अहित हो और हमें भी बाद में क्षोभ हो और आकुलता मचे।

**ऐहिक जीवनयात्रा में हित मित प्रियवचन बोलने में चतुराई—** ऐहिक जीवनयात्रा में सबसे बड़ी होशियारी है वचन बोलने की। यदि कोई पुरुष अपने वचन पर संयम नहीं रखता और जैसा चाहे जहाँ बोल देता है उसको जीवन में शान्ति के मौके नहीं मिल पाते और जो समझते हैं कि वचन बड़े सही बोलने चाहिए, आगे पीछे की बात विचारकर चलना चाहिए जिससे कभी हमें अशान्ति न आ सके तो उसका वचन व्यवहार स्वपरहितकारी होता है। जब कटुवचन निकलते हैं तो उन वचनों का नाम बाण भी रख देते हैं। वचन बाण में ढाल दिया। अरे तलवार का घाव लोहबाण का घाव तो कभी मिट जायेगा, पर वचनबाण का घाव नहीं मिटता, जीवन भर उसका ख्याल बना रहेगा। इसीलिए किसी को अहितकारी वचन न बोल देना चाहिए। वचनों को बाण की उपमा इसीलिए दी है कि यह वचन बाण की तरह चुभता है और जब कोई वचन बोलता है तो उसका मुख धनुष जैसा तन जाता है। मुख का आकार धनुष जैसा कुछ पहिले से ही है और फिर जब क्रोध में आकर बोलता है तब जैसे तना हुआ धनुष होता है उस तरह उसका मुख बन जाता है और जब कभी उस मुखरूप धनुष से कटु वचनरूपी बाण निकलता है तो उस दूसरे की (जिसके प्रति वह वचन कहा गया है) हालत बड़ी क्षोभ भरी हो जाती है। और भी देखिये दूसरे का क्षोभ मचाने का निमित्त वह बन पाता है जो पहिले खुद क्षोभ कर लेता है। दूसरे की प्रशंसा करने में हृदय में तड़फन और घबड़ाहट नहीं होती, बल्कि वह सुखपूर्वक दूसरे की प्रशंसा कर लेता है। जब दूसरे की निन्दा करना होता है या गाली देना होता है तो पहिले अपने हृदय में तड़फन मचानी पड़ती है। तो अपना ऐसा वचन-व्यवहार रखना चाहिए कि जिससे कभी भी आगे अशान्ति का कारण न बन सके। तो सोच करके व्यवहार वही तो करेगा जो यह कारण कार्य

विधान समझता होगा कि देखो यदि हम प्रमादी रहेंगे तो कर्मबन्ध होगा। उसके उदय में दुःखी होना पड़ेगा। लेकिन मेरा दुःख स्वभाव नहीं है। हमें चाहिये कि ये दुःख के बीज न बोये जावें, अपने शुद्ध परिणाम रखें तो हम अपने आपमें उसमें सुधार कर सकते हैं।

**अध्यात्मदृष्टि में उपयोगी नयों में से परमशुद्धनिश्चयनय का प्रतिपादन—** प्रसंग में उपादान और निमित्त की चर्चा चल रही थी और साथ ही साथ अध्यात्म का मर्म समझने के लिए बड़ी सावधानी से सुनो, संक्षेप में कहा जायेगा। देखिये, अध्यात्ममर्म जानने के लिए 5 दृष्टियों का उपयोग करना होता है, उनमें से कुछ दृष्टियाँ तो हेय तत्त्व बताकर उपेक्षा करा देती हैं, कुछ दृष्टियाँ अध्यात्म में लगा देती हैं। वे 5 दृष्टियाँ हैं— (1) परमशुद्धनिश्चयनय, (2) शुद्धनिश्चयनय, (3) अशुद्धनिश्चयनय, (4) व्यवहारनय, (5) उपचारनय। अगर कोई इन नयों का ठीक-ठीक अर्थ जान जायें तो उसे कभी भी विवाद न उत्पन्न होगा। इन 5 नयों में उपचारनय तो मिथ्या है। जैसे कहा कि मेरा मकान, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र इत्यादि, ये सब मिथ्या बातें हैं। तो उपचारनय की तो धार्मिक चर्चा में प्रतिष्ठा ही नहीं है। बाकी चार नय सुनय हैं। इन नयों का स्वरूप समझिये परमशुद्धनिश्चयनय में तो यह देखना है कि वस्तु का सहजस्वरूप शाश्वत एकाकार है। जैसे अपने आत्मा की बात सोचे कोई कि मेरा आत्मा अथवा मैं निरपेक्षरूप से अपने सत्त्व के कारण किस स्वरूप वाला हूँ। तो विदित होगा कि मैं यह आत्मा विशुद्ध चैतन्यस्वरूप वाला हूँ अर्थात् इसमें विकार नहीं, लागलपेट नहीं, पर सम्पर्क नहीं। यह आत्मा है ना, तो है के नाते से अपने आपमें जो कुछ मेरा स्वरूप बनता हो वह है परमशुद्धनिश्चयनय का विषय। संसारी जीव इस विषय से अपरिचित हैं। अपने आपमें शाश्वत हूँ, अपने स्वरूप में इसका परिचय नहीं है और इसी कारण बाह्यसमागमों को, पर्यायों को, परिणतियों को आपा मान करके उसमें लगाव रखते हैं और दुःखी होते हैं। धर्मपालन की ऊँची पद्धति यह है कि परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत तत्त्व मेरे उपयोग में रहे। मैं शाश्वत जाननमात्र एकरूप अविकार तत्त्व हूँ। इसकी यदि उपासना बने, रुचि बने और इसका लगाव बन जाय, इस तत्त्व की धुन में रहे तो वही महात्मा हैं, वही संसारसागर से तिरने वाला है। तो परमशुद्ध निश्चयनय का विषय है वस्तु का सहजस्वरूप अखण्ड एकमात्र एकचिन्मात्र।

**अन्य दृष्टियों का विरोध न करके एकमात्र परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में भलाई—** देखिये- परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि उत्तम है, मगर कोई इस दृष्टि में एकान्त कर ले और बाकी का निषेध करे, परिणमन कोई चीज नहीं, इसमें पर्याय नहीं, इसमें भेद नहीं तो उसका वह एकान्त बन जायगा। और जैसे सांख्यसिद्धान्त में या अन्य अद्वैतवाद में बताया गया है कि आत्मा का स्वरूप चिन्मात्र है और वह ऐसा चिन्मात्र कि जिसमें ज्ञान भी नहीं है, ज्ञान को दोष बताया जिसमें परमशुद्धनिश्चयनय की तानातानी की और एकान्त आग्रह किया, उसने ज्ञान को दोष बताया। ज्ञान होना, जानना यह तो प्रकृति विकार है। जब व्यक्तपरिणमन कोई जीव का न रहा तो सत्त्व ही कैसे समझा जाय? तो एकान्त आग्रह में तत्त्व का लोप हो

जाता है। पर जो प्रमाण का सही निर्णय किए हुए है और वह परमशुद्धनिश्चयनय का आलम्बन लेकर एक विशुद्ध अखण्ड चैतन्यमात्र को दृष्टि में ले रहा है, उसके लिए तो भला ही है।

**शुद्धनिश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनय में तत्त्वदर्शन—** दूसरा नय बताया गया है शुद्धनिश्चयनय। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में शुद्धपर्याय नजर आती है, और वहाँ कोई चर्चा करे और इस दृष्टि में रहने वाला साधक समाधान दे तो वह अद्वैत ढंग से समाधान देगा। वस्तु अपने स्वभाव का कर्ता है, वस्तु अपने स्वभाव का भोक्ता है, आत्मा विशुद्ध चैतन्यपरिणमनों का कर्ता भोक्ता है। विशुद्धज्ञानदर्शन विकास यही मेरी अलौकिक दुनिया है, यही बात मुझमें मेरे ही कारण प्रकट हुई है। यह सब शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में समाधान मिलता है। तीसरी दृष्टि है अशुद्धनिश्चयनय दृष्टि। इसमें बात तो देखेंगे अशुद्धपर्याय की, लेकिन देखेंगे एक ही वस्तु की दृष्टि रखकर। वस्तु की विभावपरिणति वस्तु के अशुद्ध उपादान से होती है। उसमें निमित्त कुछ नहीं करता, निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उस ही में है। यह अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि का कथन चल रहा है। निश्चय की दृष्टि है, अतः एक ही बात को एक में निरखना है। जीव में राग हुआ तो अब हम केवल जीव जीव को ही देखें, अन्य द्रव्य को न देखें क्योंकि हमने दृष्टि बनायी है निश्चयनय की, लेकिन वह है अशुद्धदृष्टि। तो अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में यह दिखेगा कि जीव में जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के परिणमन से जीव में उस प्रकार का उपयोग जगा है। इस उपयोग का करने वाला अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इस तरह से अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में एक ही वस्तु में विकार उसके ही परिणमन से उसके ही कारण से देखता है।

**व्यवहारनय का प्रयोग—** चौथा नय है व्यवहारनय। व्यवहारनय यह बात बताता है कि वस्तु में विभावपरिणमन निमित्त के बिना नहीं होता निमित्त पाकर ही योग्य उपादान अपने मलिनरूप पर्याय से परिणत हो पाता है। व्यवहार दृष्टि की बात असत्य नहीं है। क्या यह बात गलत है कि जीव में रागादिक विकार कर्मोदय का निमित्त पाकर होते हैं? सही बात है अन्यथा हो ही नहीं सकते। कर्मोदय न होने पर विकार नहीं होते, यह बात तो तथ्य की है, लेकिन दो पदार्थों की दृष्टि रख करके इस सम्बन्ध की बात कही गई है अतएव उसका नाम व्यवहार है। व्यवहार को मिथ्या नहीं कहा गया, भेदीकरण करके अन्य परिस्थितियाँ, सम्बन्ध, अनेक द्रव्य की बात बताकर सही बात को उपस्थित करना व्यवहार है। झूठ तो उपचारनय कहलाता है, लेकिन उपचारनय भी कोई मर्म रखे हुए होता यह बात दिखेगी। जैसे मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कह दिया तो घी उसमें रखा है इसलिए उसे घी का घड़ा कहते हैं। वस्तुतः वह घी का घड़ा नहीं है। यह उपचार की बात है, मगर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की बात बतायी गई है, दो पदार्थों का नियमित सम्बन्ध को निगाह में रखकर तभी यह बात कही जा सकती है, अतएव एक ही पदार्थ पर दृष्टि रखकर बताने वाले निश्चयनय की निगाह में व्यवहार मिथ्या है और जिसको यह रुचि है कि हम तो एक द्रव्य को ही निरखेंगे, क्या



निरखना है दूसरे पदार्थ को, जब एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अत्यन्ताभाव है, त्रिकाल में एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप नहीं बन सकता। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी का किसी अन्य में नहीं आ सकता, तब दूसरे को निरखना क्या? केवल एक को ही निरखना है, ऐसा निश्चयनय का संकल्प करके चढ़े हुए पुरुष की दृष्टि में व्यवहारनय की बात है ही नहीं, यह कहना चाहिए। यहाँ तक तो नय की बात कही है। अब उपचार की बात सुनिये।

**कल्पनाविदित उपचार की असमीचीनता—** आज का मनुष्य जिस बात में लगा हुआ है प्रायः वह तो बिल्कुल ही मिथ्या बात है। मेरा वैभव, मेरा मकान, मेरी इज्जत, मेरे पुत्र, मेरे मित्र, मेरी पार्टी आदि, ये सब मिथ्या बातें हैं। आज कल्पना में जिन्हें अपना मित्र समझ रखा है, अभी कोई किसी के मन के विपरीत बात किसी दूसरे ने कर दिया तो उसे शत्रु समझ लेते हैं। देखिये विभीषण रावण का भाई जब रावण के प्रेम सूत्र में बंधा हुआ था उस समय विभीषण ने क्या कार्य किया? इन बातों को पुराण बतलाते हैं। जब यह चर्चा आयी कि दशरथ के पुत्र और जनक की पुत्री के निमित्त से रावण की मृत्यु होगी तो विभीषण ने सोचा था कि मैं दशरथ और जनक इन दोनों को मार डालूँगा। जब ये दोनों होंगे ही नहीं तो फिर इनके पुत्र पुत्री हमारे रावण की मृत्यु के निमित्त कैसे बन सकेंगे? इस बात को दशरथ व जनक ने और उनके मंत्रियों ने भी सुन लिया। आखिर मंत्रियों ने एक उपाय रचा उन दोनों की रक्षा का। दशरथ व जनक का लाख का पुतला बनवाया। उनकी जगह पर उन पुतलों को रख दिया और दशरथ व जनक को कहीं छिपा दिया। और मंत्रियों ने यह कहलवा दिया कि महाराज इस समय अस्वस्थ हैं, वह अभी किसी से मिलेंगे नहीं, मंत्रिगण इस राज्य का कार्य करेंगे। विभीषण तो दशरथ जनक की खोज में था ही। तो किसी तरह से विभीषण वहाँ पहुँचा, उन कमरों में देखा तो तुरन्त ही दशरथ व जनक के (उन पुतलों के) सिर को उड़ा दिया और समुद्र में बहा दिया। बड़ा खुश हुआ। तो देखिये विभीषण का कैसा भाव था अपने भाई रावण के प्रति, लेकिन वह समय भी गुजर गया। दशरथ के पुत्र श्री राम व जनक की पुत्री सीता हुई। उनके जीवन की घटनायें सभी लोग समझते हैं, पुराणों में बाँचते हैं। सीता हरी गई, विभीषण को अब ज्ञान जगा, श्रीराम का परम भक्त बन गया, अपने भाई रावण से अपना मुख मोड़ लिया, विभीषण श्रीराम से जा मिला और श्रीराम का इतना बड़ा भक्त बना कि जिसके समान कोई दूसरा उदाहरण नहीं दिया जा सकता। तो जो अभी शत्रु के रूप में दिखता है वही भाव बदलने पर अपना परम मित्र बन जाता है। तो इन बाहरी बातों में मेरा मेरा मानना- ये तो सब उपचार की बातें हैं। ये सब बातें तो अपनी कषाय परिणम के अनुसार की जाती हैं। कोई व्यक्ति अगर मेरी कषाय के अनुकूल परिणम रहा है तो उसे हम अपना मित्र मान लेते हैं और अगर कोई मेरी कषाय के प्रतिकूल परिणम रहा है तो उसे अपना शत्रु मान लेते हैं। यहाँ की शत्रुता व मित्रता में क्या दम है? अभी कोई बालक सिनेमा देखने जा रहा हो, तो कोई दूसरा बालक उससे हाथ मिलाकर एक दूसरे के गले

में हाथ रखकर (एक मित्रता सी बनाकर) सिनेमा देखने चले जाते हैं, एक व्यक्ति की कषाय दूसरे व्यक्ति की कषाय से मिल गई तो उसे वह अपना मित्र मान लेता है और उसी मित्र की अगर अपने मन के प्रतिकूल परिणति समझ लिया तो वही शत्रु मान लेता है। यहाँ के पाये हुए समागमों में इष्ट अनिष्ट मान लेना, ये सब मिथ्या बातें हैं। उपचारनय की कोई प्रतिष्ठा नहीं है।

**अध्यात्मदर्शन में नयों की उपयोगिता—** अध्यात्मदर्शन में जो शेष 4 नय बताये गए थे वहाँ यह निष्कर्ष निकलना चाहिए कि विकार अनुकूल निमित्त सन्निधान बिना नहीं होते। जो रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें जगती हैं वे कर्म के उदय होने पर जगती हैं, फिर भी कर्म जीव में कोई परिणति करता हो सो नहीं करता। कर्म तो अपनी परिणति में रत है, उसका निमित्त पाकर, सन्निधान पाकर यह विकार हुआ। एक मोटा दृष्टान्त लीजिए। कोई लड़का किसी लड़के से 20 हाथ दूर खड़ा हुआ है, वह अपनी जीभ निकाल रहा है, अंगूठा दिखा रहा है, अपनी ओर और भी अनेक क्रियायें कर रहा है और उन क्रियायों को देख देखकर दूसरा बालक अपने अन्दर कुछ कल्पनायें करके चिढ़ रहा है और दुःखी हो रहा है। कोई एक भाई उस बालक को समझाते हैं- अरे क्यों बेकार में चिढ़ाकर उस लड़के को हैरान कर रहे हो? कोई दूसरा व्यक्ति उस चिढ़ने वाले बालक से कहता है- ऐ बालक, तू व्यर्थ में क्यों चिढ़ रहा है? अरे वह तो अपने में अपनी क्रियायें कर रहा है, तू उन क्रियाओं को देखकर व्यर्थ ही ख्याल बनाकर दुःखी हो रहा है। तो यों ही समझिये कि बात यद्यपि यहाँ ऐसी ही हो रही है कि कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव में राग विकार हो रहे हैं लेकिन जो असमझ लोग हैं वे कर्मों पर ही दृष्टि रखते हैं। ये कर्म जब हमें सहूलियत देंगे तब हम कुछ धर्म कर सकेंगे। अभी तो कर्मों का ऐसा उदय ही चल रहा है कि हमें मोह में फंसना पड़ रहा है और जो उपादान दृष्टि वाले अथवा विवेकी जन हैं वे हर हालत में अपने को ही समझाते हैं। देखो अपना उत्साह जगायें, प्रमाद न करें, सत्संग में रहें, अच्छे उपदेशों में रहें, अपने भावों में प्रगति करें, अपने आपको समझाते हैं यों तो समझना चाहिए कि निष्कर्ष यह निकला कि ये रागभाव हुए हैं कर्म का निमित्त पाकर, इसलिए ये मिट सकते हैं, लेकिन इनमें दम कुछ नहीं है। जब हम अपने आपको संभाल ले तो ये सब उपद्रव अपने आप मिट जायेंगे।

**हमारा वर्तमान अवसर व कर्तव्य—** यद्यपि यह बात है कि हममें संभाल सकने की योग्यता तब आती है जब हमारा उस प्रकार का साधन हो। इसीलिए तो बताया है कि 5 लब्धियों में सबसे पहिले क्षयोपशम लब्धि होती है, अनादि काल से भूले हुए प्राणियों को जब सुधरने का मौका मिलता है तो कब मिलता है जब उन कर्मों की चाल में ऐसा अवसर आ जाता है कि उनके इस जाति का क्षयोपशम मिल गया कि यहाँ कुछ विचार शक्ति आयी तो समझिये कि हम वहाँ विशुद्धि कर सकते हैं। यह बात सर्वजीवों की अपेक्षा कही जा रही है। अपनी बात सोचें तो हम आपको क्षयोपशम लब्धि है। हम आप मनुष्य हैं, इतना श्रेष्ठ मन मिला है,

इतना श्रेष्ठ कुल, धर्म आदिक मिला है, तो यह हम आपके कितने विशिष्ट क्षयोपशम की बात है। अब हम यदि कर्मों से दबे हैं, प्रेरे हैं ऐसा ही गान करते रहें तो हमने क्षयोपशम लब्धि से कुछ लाभ नहीं उठाया। अब इस ओर जाना चाहिये। अपना उत्साह बनायें कि हम भला ही अपना कदम बढ़ायें। तो यह समझना कि ये रागादिक भाव यद्यपि कर्मोदय का निमित्त पाकर हुए हैं फिर भी निमित्त का कुछ भी प्रवेश नहीं। हमारा तो सहज स्वरूप अखण्ड एकाकार है, परम शुद्धनिश्चयनय के विषय पर अपने को ले जायें। मैं सबसे निराला हूँ, मेरा यहाँ कोई पहिचाननहार नहीं है, मैं ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र तत्त्व हूँ कि मेरा यहाँ कोई पहिचाननहार नहीं है और यदि पहिचाननहार कोई होगा तो वह स्वयं ज्ञाताद्रष्टा बन जायेगा। उसकी व्यक्ति में परिणति को द्रव्य मानने की बुद्धि न होगी। यहाँ तो जितना भी ऊधम मच रहा है वह सब पर्यायदृष्टि का ऊधम है। जिसको लोग पहिचानते हैं कि यह अमुक चंद्र है, अमुक लाल है, वह है क्या? वह तो हाड़ माँस के लोथड़ का पिण्ड है अथवा समझिये कि जीवसहित वह शरीर है, जिसे कि लोगों ने किसी नाम से पुकारा लेकिन पुकारने वाले की दृष्टि उस जीव के शुद्ध लक्षण पर तो नहीं है। वह तो ऐसे ही मेलजोल को मानता है कि यह अमुक जीव है। तो यहाँ जितनी भी पहिचान है, जितना भी व्यवहार है वह माया की माया से पहिचान हो रही है। अर्थात् समझने वाले दूसरे भी मायारूप हैं और जिनके प्रति जो कुछ भी व्यवहार करते हैं वह एक मायारूप है, पर्याय है, नष्ट हो जाने वाली चीज है। उसमें जिसने आत्मबुद्धि की, यह मैं हूँ बस समझिये कि उसने जन्ममरण की परम्परा बनायी और जो शरीर से, कर्म से, विकार से कषाय से निराले अपने शुद्ध चैतन्य अखण्डस्वरूप में ऐसी बुद्धि लगाये हैं उनको शान्ति का मार्ग मिलेगा। यद्यपि वर्तमान परिणमन हमारा ऐसा नहीं है, किन्तु दृष्टि में ऐसी प्रबल शक्ति है कि पर्यायों को भी पार करके अतः द्रव्यस्वभाव को दृष्टि में ले सकते हैं, बस यही दृष्टि हम आपको संसार से पार करेगी, उसके यत्न के लिए हमें सब तरह से ज्ञानार्जन करना चाहिए।

**सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के लाभ के पश्चात् हितार्थी के कर्तव्य पर विचार—** तत्त्वनिर्णय किया जाता है आत्मस्वरूप के यथावत् समझने के लिए। आत्मस्वरूप की समझ की जाती है आत्मा के सहजस्वरूप का अनुभव करने के लिए। जब आत्मा के सहजस्वरूप का अनुभव हो जाता है अर्थात् निर्विकल्प अनुभूति का अनुभव प्राप्त होता है तो उस ही क्षण उस ही अनुभूति के साथ सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। अब यहाँ यह चर्चा चलेगी कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने के बाद जिसके की साथ सम्यग्ज्ञान हो ही जाता है, परिपूर्ण नहीं, किन्तु प्रयोजनभूत सम्यग्ज्ञान बन गया तो यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने के बाद भी तो कुछ करने के लिए रहता होगा या सम्यक्त्व या सम्यग्ज्ञान होने से ही कल्याण हो जाता है। समाधान उसका संक्षेप में यह है कि जो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें जो आत्मा के सहजस्वरूप का परिज्ञान होता है, उसमें ही उपयोग बना रहे, बस यही एक कार्य रह जाता है। आत्मा अपने उपयोग का कर्ता होता है। हर स्थिति में इसमें उपयोग

बना रहता है, इसके अतिरिक्त और करता ही क्या है? यह बात जो परिणमे सो कर्ता इस दृष्टि से निरखते जाइये। आत्मा क्या कर सकता है? अनेक बातें तो स्पष्ट मालूम होती हैं। किसी पुरुष ने क्रोध किया, दूसरे की हानि करने के लिए तो लोग स्पष्ट कहते हैं कि उस पुरुष ने क्या किया? हानि तो वह दूसरे की कर नहीं सकता। दूसरे की हानि होना उसके पापोदय पर निर्भर है, अथवा उसकी स्वयं की ही परिणति है। जब कार्य करने वाले ने अपना क्रोधभाव बनाया, उसमें उपयोग उस प्रकार का बनाया, जिसमें कि क्रोधभाव के साथ यह जुड़ गया। किसी भी कषाय की स्थिति में उस जीव ने क्या किया? अपने में उपयोग बनाया सुख दुःख के अनुभव में यह जीव क्या करे? अपना विचार बनाता, अपना उपयोग बनाता- मेरा बहुत प्रभाव है, मेरी इतनी आय है, ऐसा संकल्प विकल्प बनाया है, बस उस उपयोग का मजा ले रहा है जो कि क्षणिक है, मिथ्या है। क्षणिक रहो, मिथ्या रहो, बात यह कही जा रही है कि यह जीव उपयोग करता है, उपयोग के सिवाय और कुछ नहीं करता। दुःख की स्थिति में भी इसने उपयोग ही किया। मेरे हाथ में फोड़ा है, सिर में दर्द है, बड़ी कठिन तकलीफ है, आखिर ऐसा उपयोग बना, उससे दुःख का अनुभव करता है तो यह जीव अधीर बन जाता है। बताइये वह अपने कल्याण के लिए क्या करेगा? आपके सहजस्वरूप की प्रतीति करे। मैं सबसे निराला केवल शुद्धचेतना मात्र हूँ और अपने आप ही अपने सत्त्व से होता हूँ, वही मैं हूँ, इसने अपने आपके स्वरूप की दृष्टि की, प्रतीति की, जानकारी की। तो अब इससे आगे और आनन्द में बढ़ना है तो करने का काम क्या रह गया? अपने आपमें यह ज्ञान स्थिरता से बन जाय कि मैं तो सहज चेतनामात्र हूँ, उपयोग यहाँ ही रहे, यही करने का काम पड़ा है।

अन्तर्विराम पाने के लिये वर्तमान परिस्थिति में बाह्य सङ्ग छोड़ने की आवश्यकता— यहाँ बात यह भी एक जाननी कि यह अन्तर्विराम करना समझने पर भी बन क्यों नहीं रहा? बन यों नहीं रहा कि हम रागद्वेष के संस्कार और उसके साधन बनाये हुए हैं, इस कारण हमारा उपयोग आत्मा की शुद्धदृष्टि में नहीं चल पाता। तब ऐसी स्थिति में करना क्या होगा कि जो रागद्वेष के साधन है उन साधनों से हटना, जिससे रागद्वेष निराश्रय रहकर मिट जायें और इसको ऐसा अवसर मिले कि हम अपने शुद्ध सहजस्वरूप का अनुभव चिर समय तक बनाये रहें, इसके लिए उद्यम क्या होगा? आज ही पूछा जाय कि हमको अगर कल्याण की दिशा में बढ़ना है तो हम क्या करें? जो एक लौकिक फंसाव की स्थिति में बुद्धिपूर्वक यत्न किया जा सकता है, उसकी बात कह रहे हैं। अनेक पदार्थों का संग जुड़े, सामान्यतया यह बात कही जा सकती है। आपको यदि स्वानुभूति की दिशा में प्रगति करना है तो क्या कर्तव्य हैं? अनेक पदार्थों का संग छोड़े। अब परिस्थितिवश यह बात लोगों में भिन्न-भिन्न रूप से पायी जायेगी जो बाह्यपदार्थों का बिल्कुल संग छोड़ सकता है, उसका नाम है महाव्रती साधु। कोई इन बाह्यपदार्थों का पूरा संग नहीं छोड़ पाता है। कुछ प्रमाण रखकर गृहस्थ जीवन में गुजारा करता है तो उसका नाम है अणुव्रती श्रावक। काम क्या किया दोनों ने? अनेक बाह्यपदार्थों

का संग छोड़ा, किसी ने पूरा छोड़ा, किसी ने कुछ छोड़ा, तो बुद्धिपूर्वक स्वानुभूति की दिशा में बढने के लिए हम बाहरी साधन क्या बनायें? तो एक वाक्य में कहो कि इन बाह्यपदार्थों का संग छोड़ें, इसका अर्थ है कि इनका विकल्प छोड़ें। अब साधक पुरुष ज्यों-ज्यों प्रगति करता है त्यों-त्यों इन बाहरी साधनों को निःशेषतया छोड़ने का यत्न करता है।

**बाह्य सङ्ग के परिहार में मुनित्व की व्यक्ति—** देखिये मुनि बनना और मुनि होना, इन दोनों में फर्क नजर आयेगा और मुनि बनने की अपेक्षा मुनि होने की बात आपको श्रेष्ठतम दिखेगी। कोई पुरुष दूसरे मुनिजनों की प्रशंसा देखकर, आदर सत्कार देखकर, बड़े आराम के साधन मानकर सोचता है कि मैं भी समस्त परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ होऊँ और बाहरी झंझटों से छूटूँ और ऐसा ही मुनि बनूँ। मुनि बनता है, यह हुआ उसका बनना और एक पुरुष यह जानकर कि जितना भी बाह्यपदार्थों का संग है वह रागद्वेष का आश्रय बनता है और रागद्वेष की स्थिति में हम अपने भीतर के सहजपरमात्मतत्त्व की उपासना नहीं बना सकते। सो निःसङ्ग होना एक श्रेष्ठ कार्य है। इस जिन्दगी की सफलता इसी में है कि मैं अपने आपमें अंतःप्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूप की उपासना में रहा करूँ, उसमें बाधा आती है इन बाह्यसमागमों से तो इन्हें छोड़े। छोड़ते-छोड़ते यह भी अनुभव होने लगेगा कि एक तौलिया लँगोटी भी यदि हम रखते हैं तो तद्विषयक राग रहता है वह भी बाहर में बाधक है, सो वह लँगोटी भी छूट गई, सर्वपरिकर भी छूट गए। बाद में परिस्थिति एक यह आती है कि शरीर को आहार दिये बिना शरीर का गुजारा न चलेगा। शरीर का गुजारा न चलने पर बहुत से धार्मिक कार्यों में बाधा भी आती है। अथवा उस समय में मरण हो गया तो जो कर्म झड़ाये जाने थे, उपयोग स्थिर करके जो मोक्षमार्ग बढ़ाया जाना था वह मिट गया। फल क्या होगा? अधिक से अधिक स्वर्ग मिल जायगा। वहाँ बड़ा कर्मबंध असंयम, बड़ा होगा। यह सब विवेक है इसलिए शरीर से वैराग्य होने पर भी एक धर्म और संयम की साधना की दृष्टि से आहार करना आवश्यक समझते हैं। तो जिन्होंने सर्वजीवों को एक समान माना है, जिनकी सर्वजीवों से मित्रता हो गई है वे जब आहार करने जायेंगे, विहार करने जायेंगे तो एक किसी कोमल साधन को साथ लेकर जायेंगे कि विहार में या कहीं उठने बैठने में किसी जीव को बाधा होती हो तो हम उस कोमल साधन से जीवों की रक्षा कर सकें। वह सबसे अधिक कोमल साधन मिला है मयूरपिच्छिका का। यद्यपि किन्हीं परिस्थितियों में मयूरपिच्छि न मिले या गिर जाय- मयूरपिच्छि, जैसी घटना उमास्वामी को हुई, अन्य चीजों से भी काम चला लिया जाता है, लेकिन वह अपवादमार्ग में करने की चीज थी। उत्संग मार्ग में तो इसी पिच्छिका को बताया गया है। जब कोमल ही साधन रखना है तो अधिक से अधिक कोमल साधन इस मयूरपिच्छिका से बढ़कर और कुछ नहीं मिला। और यह भी मिला अनायास। जंगलों में मयूरपक्षी अपने पंख स्वयं छोड़ देते हैं। बहुत से पंख यत्र तत्र पड़े रहा करते हैं, सो 100-50 पंख उठाये और पिच्छिका बना ली। यही जीवों की रक्षा का उत्तम साधन बन गया। हाँ, यदि उस पिच्छिका को

हजार पंख लेकर बहुत अच्छे ढंग की सजावट के साथ बनाया जाय तब तो वहाँ राग का दोष आता है। वह थी उन साधुजनों की प्राकृतिक बात। जंगल में कुछ पंख मिल गए और उनकी पिच्छिका बना ली गई वही जीव रक्षा का उपकरण हो गया। अगर पिच्छिका को बहुत बढ़िया ढंग से सजाते हैं और उसे देख देखकर खुश होते हैं तो यह तो उनके लिए परिग्रह की चीज बन जायगी। ऐसा करना साधु के लिए योग्य बात नहीं है। हाँ, जीवरक्षा की दृष्टि से पिच्छिका एक आवश्यक साधन है, इसलिए सुगमता से मिल जाने वाले मयूरपंखों की सीधी सादी पिच्छिका ठीक है। कमण्डल भी साधु की शुद्धि के लिए एक आवश्यक उपकरण है। कदाचित् कमण्डल चुरा लिया जावे तो जंगल में सुगमता से मिले जाने वाले टूटे डबला या तोमड़ी वगैरा से शुद्धि का काम किया जा सकता है। किन्तु वह एक घटना की बात है। वैसे तो श्रावक कमण्डल प्रदान करते हैं। वह भी एक आवश्यक उपकरण है। कमण्डल को सजाकर रखना, उसे देखकर खुश होना यह भी भली बात नहीं, क्योंकि ऐसा कमण्डल साधु के लिए परिग्रहरूप बन जायगा। तो साधु के लिए पिछी और कमण्डल ये दो आवश्यक उपकरण हुए। और एक तीसरा उपकरण है शास्त्र। ज्ञानार्जन के लिए यदि वह साधु कोई एक दो शास्त्र रखे तो वह तीसरा उपकरण कहलायेगा। इन तीन चीजों के अतिरिक्त अन्य सब बातें तो साधु के लिए परिग्रह में शामिल हो जाती हैं। बस साधु ने जहाँ अपने को सर्वपरिग्रहों से दूर रखा तहाँ स्वतः ही वह निर्ग्रन्थ हो गया।

आत्मसिद्धि के उद्देश्य की पूर्ति में साधुजनों की अहिंसामहाव्रत व सत्यमहाव्रत की साधना— एक उद्देश्य की बात यहाँ कह रहे हैं कि जिनका उद्देश्य सत्यधर्म की ओर है उनसे यह क्रिया धर्मपरक बना करती है। तभी तो यहाँ न कोई राख लपेटने का विधान है, न जटायें रखने का विधान है, न सवारी रखने, महंत बनने, गद्दी बनाने आदि का विधान है। केश बढ़ गये तो साधुजन हाथों से लोंचकर फैंक देते हैं, ऐसी निःस्पृहता का विधान है, साधु तो एक सहजपरमात्मतत्त्व की भेंट के लिए ही एक उपासक बना हुआ है। तो ये जो सब करने पड़ रहे हैं इनका ध्येय यह है कि सम्यग्दर्शन में जो अनुभव किया, जिसका हमें सम्यग्ज्ञान हुआ उस तत्त्व का ज्ञानोपयोग बना रहे, इस धुन में महाव्रत धारण करना, तपश्चरण करना ये सब कार्य हुआ करते हैं। तो सम्यग्ज्ञान को एकाकार स्थिर रखने रूप कार्य में जो प्रयत्न कर रहे हैं ऐसे पवित्र आत्मा की बाह्यप्रवृत्ति महाव्रतरूप होती है। किसको सताना? सर्वथा हिंसा का त्याग हुआ, अहिंसामहाव्रत बन गया। क्या बोलना? झूठ बोलने का सर्वथा त्याग हो गया। सत्यमहाव्रत उनके हो गया। बोलने की बात यों है कि साधुजन असत्यसम्भाषण नहीं करते, यही है उनका सत्य महाव्रत, पर उन सत्यसम्भाषणों में भी हित मित प्रिय वचन बोलेंगे, अधिक न बोलेंगे। तो यहाँ और प्रगति होकर बनी उनकी भाषा समिति, इस पर भी वहाँ केवल आत्मविषयक ही बात चलेगी। जब और प्रगति में आयेंगे तब उनका बना वह उत्तम सत्या। इसके बाद

जब और प्रगति करेंगे, अपने वचनमात्र का परित्याग कर देंगे, यह होती है उनकी वचनगुप्ति। तो यों उनका सत्यमहाव्रत बना।

**आत्मसिद्धि के उद्देश्य की पूर्ति में साधुजनों की अचौर्यमहाव्रत साधना—** साधुजन सहजपरमात्मतत्त्व की उपासना के लिए तुले हुए हैं। उनको अब किसी चीज की आवश्यकता नहीं रही, तो स्वयं ही अचौर्यमहाव्रत बनता। किसी परचीज को अपनी बना लेना ही तो चोरी कही जाती है। अनात्मतत्त्व को परपदार्थ को अपना मान लेना भी चोरी है। वास्तविक चोरी का जिनके परित्याग है वे बाह्य चीजों की चोरी ही क्या कर सकेंगे? चोरी वास्तविक यही है कि किसी भी परपदार्थ को अपना मान लेना। चोरी भी करना क्या है। किसी की चीज को अपनी मान ली इसी के मायने तो चोरी है। दिखता जरूर यह है कि दूसरे का धन उठाकर अपने घर में रख लेना चोरी है बात यह हुई, मगर भीतरी बात तो देखो कि उस चोर ने क्या किया? दूसरे की चीज को अपना मान लिया कि अब मेरी हो गयी। तो परचीज को अपनी मान लेने का नाम चोरी है। तो जो जीव जिस मकान में रहता वह मकान परद्रव्य है कि नहीं? है, पर उसे कोई माने कि यह मेरा है तो बताओ उसने चोरी की कि नहीं। निश्चय से बात कह रहे हैं, देह को मान लिया कि यह मेरा है, यह ही मैं हूँ तब बतलाओ उसने चोरी की कि नहीं? परपदार्थ को अपना मान लेना, यही वास्तविक चोरी है। साधुजन इस अंतरङ्ग चोरी का त्याग कर देते हैं। उनका विचार तो यही रहता है कि मेरा जो एक चैतन्यस्वरूपमात्र है यही अनादि अनंत है, यही तो वास्तविक वैभव है। इसके अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ नहीं है। इसकी पहिचान भान जिसे रहती है उसी की महिमा है कि पवित्रता जगती रत्नत्रय की सिद्धि बनती है। तो साधुजनों के अचौर्यमहाव्रत भी है।

**आत्मसिद्धि के उद्देश्य में साधुजनों की ब्रह्मचर्यमहाव्रत व परित्यागमहाव्रत की साधना—** ब्रह्मचर्यमहाव्रत भी है, क्योंकि जहाँ परमार्थ ब्रह्मचर्य अपने आपके स्वरूप में ठहर जाना और व्यवहार ब्रह्मचर्य किन्हीं बाह्यदेहों के प्रसंग में लगाव न रखना- दोनों ही सिद्ध होते हैं, वे उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत के धारी हैं, परिग्रह का त्याग उनके हो ही गया। यहाँ तक अपने आपमें जो भी विपाकवश विभाव उठ रहे हैं रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिक संज्वलन कषायें हुई हैं, इनसे बढ़कर कषायें नहीं हैं क्योंकि प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचम गुणस्थान तक मिल सकेंगे, इसके बाद नहीं रहते, तो भले ही संज्वलन होता, पर है तो कुछ। जो भी विकार होता है उस विकार से ये उपेक्षित हैं, उनको वे अपनाते नहीं हैं, सो वह भी परिग्रह जिनके नहीं है ऐसे परिग्रहमहाव्रत के वे धारी हैं। तो महाव्रत धारण करना और अपने आपमें एकाग्र चिन्तन के लिए नाना तपस्याओं का साधन करना वह सब उनके होता है। किसलिए? सर्वविकल्परहित परिणति की सृष्टि के लिए। तो करने का काम अन्तरङ्ग में क्या रहा कि सम्यग्ज्ञान द्वारा जो हमने अपने भीतर भगवान की परख की। बस उसी भगवान के दर्शन में निरन्तर समय लगे, बस यही काम रह जाता है और इसकी साधना के

लिए बाह्य में महाव्रत तपश्चरण संयम साधना करना होता है। निष्कर्ष यह है कि उस शुद्ध तत्त्व का उपयोग बनाये रहना यह काम रह जाता है आत्मसाधना की प्रगति के लिए। इसका नाम है शुद्धोपयोग।

**रागांश की बंधकारणता व ज्ञान वैराग्य की संवरहेतुता व निर्जराहेतुता—** शुद्धोपयोग कहीं 'शुद्ध का उपयोग' इस अर्थ वाला है, कहीं 'शुद्धोपयोग' इस अर्थ वाला है। ज्ञानी के निर्जरा इन सब स्थितियों में है। कहीं कम कहीं अधिक। तब यहाँ एक जिज्ञासा यह हो सकती है कि क्या शुभोपयोग संवरनिर्जरा का कारण नहीं है। यहाँ एक बात समाधान में पहिले समझ लीजिए कि जीव की परिणति एक समय में एक होती है। जिस परिणति को हम बता नहीं सकते कि किस रूप है? पर जब उस परिणति का विश्लेषण हम करने चलेंगे तो भेदपूर्वक बता सकेंगे कि इसकी यह परिणति हमारा राग न रहने में और हमारा राग बना रहने में हुई। जो ज्ञानी जीव है, सम्यग्दृष्टि जीव है उसके भी राग चलता है और जिस समय राग चल रहा है उस समय कोई एक ही तो परिणमता है। जिसको भेद करके हमने राग की बात कही। उस ज्ञानी की केवल एक परिणति है और वह आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा चारों का कारण बन गयी। एक सम्यग्दृष्टि जीव जो कि अविरत है, देशविरत है, महाव्रती प्रमत्तविरत है उसका ज्ञान शुद्ध है, सम्यक्त्व शुद्ध है, उद्देश्य शुद्ध है और राग भी चल रहा है, तो एक समय में जो परिणति है वह तो जो है सो ही है। अगर उस परिणति के सम्बन्ध में कर्मों का आस्रव भी है, बंध भी है, संवर भी है, निर्जरा भी है तो वह प्रकृति चारों का कारण बनी, मगर विश्लेषण करके यह मानना होगा कि उस परिणति में जितने अंश में राग नहीं है वह संवर निर्जरा का कारण है और जितने में राग है वह आस्रव बंध का कारण है, तो शुभोपयोग प्रमत्त ज्ञानी के मुख्यरूप से कहा जाता है। राग को निहारकर, प्रभु में अनुराग है अथवा संयम दान में प्रवृत्ति है तो कहते हैं कि यह शुभोपयोगी ज्ञानी पुरुष है, लेकिन केवल शुभोपयोग ही हो उस परिणति में सो बात नहीं है, किन्तु जितने अंश में उसने सत्य सहज तत्त्व का निरीक्षण किया और जो उसका ज्ञान हो गया, जिसके कि अब अज्ञान नहीं बन सकता, ये सब बातें उस परिणति में हैं। तब उस समय जितने अंश में राग है उतने अंश में संवर निर्जरा न कहेंगे, पर जितने अंश में उसका शुद्ध ज्ञान प्रकट है और वैराग्य है उतने अंश में तो संवर निर्जरा कही ही जायेगी। शुभोपयोग तो परिणति का एक आंशिक रूप है। परिणाम तो कोई एक है। उसमें जितना शुभ अनुराग है उसका नाम शुभोपयोग है और जितने में शुद्ध की प्रतीति है उतने अंश में वहाँ शुद्धोपयोग है। तो एक परिणति के समय आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा- ये चारों हो सकते हैं, पर भेद करेंगे तो विदित होगा कि इसमें जितना शुभोपयोग है वह तो है आस्रवबंध का कारण और जितने अंश में ज्ञानवैराग्य है वह है संवरनिर्जरा का कारण। केवल शुभोपयोग तो असम्यग्दृष्टि जीव के भी सम्भव है, भले ही वह सम्यग्ज्ञानसहित नहीं है पर है तो शुभोपयोग, जिसके बल से मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि अभव्य नवग्रैवेयक तक में जन्म ले लेता है। तब बतलाओ कि उस परिणति में जो शुभोपयोग वाली बात है, रागांश वाला परिणाम है, रागांश है वह



संवरनिर्जरा का कारण कैसे होगा? उसे तो मंदकषाय कहा और उस मंदकषाय में पुण्य का बंध होगा, यह कह लीजिए। हाँ सम्यग्दृष्टि जीव के जो शुभोपयोग है उस शुभोपयोग के साथ उस ही एक समय की परिणति में ज्ञान प्रतीति भी बनी हुई है, और शुभोपयोग भी बन रहा है, व्रत प्रवृत्ति भी चल रही है तो उसमें यह विवेक करें कि जो ज्ञानविलास का अंश है वह संवरनिर्जरा का कारण है, जो रागांश है वह आस्रव बंध का कारण है।

**तपश्चरण से कर्मनिर्जरा व स्वभावोपयोग की स्थिरता—** यहाँ जिज्ञासु पूछता है कि तपश्चरण बिना तो कर्म की निर्जरा होती ही नहीं है, इस कारण तपश्चरण तो करना ही पड़ेगा, यह आशंका इस भाव को लेकर हुई है कि बाहरी क्रियाकलाप तो मोक्ष के कारण ही होते हैं। इस सम्बन्ध में उत्तर देते हैं कि सुनो- तप से कर्मनिर्जरा होती है, इसका आन्तरिक भाव क्या है? तप नाम इच्छानिरोध का है। इच्छा के निरोध से कर्म निर्जरा होती है। इच्छा के अभाव हुए बिना कर्मों की अविपाक निर्जरा सम्भव नहीं है और इच्छा के अभाव में ही तो ज्ञानपरिणति स्थित होती है तो दोनों ही जगह इच्छानिरोध हितकर हो जाता है। कर्मनिर्जरा भी इच्छानिरोध से होती है और अपने ज्ञानपरिणति की स्थिरता भी इच्छानिरोध से होती है याने अन्तरङ्ग चारित्र लो, जिसे कहा गया है कि जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें उपयोग रम जाय और ऐसी अनुभूति मिले जहाँ कि विकल्प न उत्पन्न हों उसे कहा है अन्तरङ्ग चारित्र, तो वह भी इच्छानिरोध से होता है। अनेक मनुष्य ऐसी आशंका करने लगते हैं कि हमारा चित्त ध्यान में जाप में नहीं लगता, इसका क्या कारण है? कारण उसका स्पष्ट है कि इच्छा बेतुकी होगी तो इच्छा के रहते हुए चित्त एक सहजस्वरूप में पवित्रभाव में लग जाय, यह बात कठिन है। तो इच्छानिरोध से ज्ञानपरिणति में स्थिरता भी होती है और कर्मनिर्जरा भी होती है। इस कारण यह कथन संगत है कि तपश्चरण बिना कर्मनिर्जरा होती नहीं है।

**ज्ञानी पुरुष की बाह्य परिस्थिति में तपश्चरण का रूप—** अब देखिये आन्तरिक तपश्चरण करने वाला पुरुष किसी स्थिति में तो होगा, उसकी कोई बाहरी परिस्थिति तो होती ही है। वह बाहरी परिस्थिति क्या होगी? क्या विषय कषायों में लगने की प्रवृत्ति होगी? नहीं। तो बाह्यतप है वह उनकी बाहरी परिस्थिति है। जैसे अनशन करना, आहार का परित्याग कर दिया। जिस जीव में विकल्प कम होने की पात्रता है अथवा विकल्प न हो ऐसी योग्यता है उसके भोजन करने के विकल्पों का आधिक्य नहीं हो सकता अथवा ये विकल्प वहाँ प्रतिष्ठा नहीं पाते, तो ऐसे अनेक अवसर आते हैं तब अनशन सहज सुगम हो जाता है। इसी प्रकार बाह्यतप ऊनोदर वृत्ति परिसंख्यान आदि ये सब हो रहे हैं, क्योंकि पात्रता उसमें इच्छानिरोध की है। तो इच्छानिरोध तपश्चरणरूप होती है, उसके विपरीत न होगी। जैसे कोई दिन में कई बार खाता रहे और आत्मसाधना का भेष बनाये, दिन में जब भी भूखप्यास लगे खाये, भक्ष्य अभक्ष्य का भी कोई विचार नहीं हो, क्या ऐसी वृत्तियों में रहकर इच्छानिरोध की बात रहती है? यों तो स्वच्छन्द लोग कहने लगते हैं कि जो इच्छा

हो उसका सेवन करे, भोगोपभोग करे, इच्छा मिट जायेगी। पर ऐसा करते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गया, क्या इच्छा समाप्त हो सकी है? तो इच्छा का अभाव जिस जीव के होता है उनकी बाह्य प्रवृत्तियाँ भी तपश्चरण की होती हैं और ज्ञानी इन बाह्य तपस्याओं को बाह्य साधन मानता है कि इन साधनों में रहेंगे तो अनेक अवसर होंगे, जिनमें इच्छानिरोध का प्रताप बढ़ेगा। ज्ञानी जीव इस विचार से भी तपश्चरण करता है कि कभी किसी उपसर्ग के आने पर मैं स्वभाव से च्युत न हो जाऊँ, इस दृढ़ता के लिए अनेक प्रकार के ग्रीष्म के, वर्षा के, शीत के उपद्रव सहता है। कहा भी है अध्यात्मशास्त्रों में कि जो ज्ञान आराम से प्राप्त कर लिया है बिना कष्ट पाये, वहाँ यह संभव है कि कभी कष्ट आ जाय, उपद्रव आ जाय तो वह ज्ञान भी नष्ट हो सकता है। तो ज्ञानी पुरुष इस भावना से भी इस तपश्चरण में चलता है कि कोई उपसर्ग आने पर मैं अपने ज्ञानस्वभाव के उपभोग से च्युत न हो जाऊँ, ऐसी दृढ़ता बनाने के लिए भी तपश्चरण करता है। शरीर के सुखियापन की प्रवृत्ति इस जीव को धर्मपालन में बाधा देती है। इससे सात्विक रहन-सहन की इस लोकयात्रा में महत्त्व के लिए प्रतिष्ठा मानी गई है।

**ज्ञान के सदुपयोग में ज्ञान की सफलता—** अध्यात्मयोगियों का लक्ष्य शुभोपयोग होने पर भी अनादि अनन्त अखण्ड एक स्वरूप अंतस्तत्त्व पर रहता है। साधनों से जो एक लक्ष्य ज्ञानी ने बनाया, उस लक्ष्य से वह कभी हटता नहीं है। सर्वनयों से वस्तुनिर्णय करने का प्रयोजन केवल यही है। मानो सब कुछ पढ़ा लिखा और उसका जो फल है वह प्राप्त नहीं किया, जिन लौकिक फलों में बड़ी ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ प्राप्त कर ली लेकिन अब अर्थार्जन के लिए उनका कुछ भी उपयोग नहीं करता। तो लोग कहते हैं इसका इतना पढ़ना बेकार है। तो यों ही समझिये कि धार्मिक विषयों का ज्ञान बढ़ायें, सर्वप्रकार से जानकारी कर लें, फिर भी यदि उसका उपयोग न करें अर्थात् यदि अपने परिणाम निर्मल न बनायें, अपने शुद्ध सहजपरमात्मतत्त्व की दृष्टि न रखें तो समझिये कि वह सारा का सारा परिश्रम बेकार है। यद्यपि सम्भावना है कि जिसने ज्ञानसम्पादन किया हो तो कभी वह जागृति पा सकेगा, मगर जब जागृति में नहीं है, विपरीत ही परिणति रख रहा है तब तो यह कहना पड़ेगा कि ज्ञान बेकार है। जैसे कोई धनी पुरुष है, वह कंजूस हो, कुछ खर्च न कर सकता हो तो ऐसे पुरुष का धन बेकार है, यह कहा जायगा। पर सम्भावना है कि गांठ में तो धन है। किसी भी दिन भाव बदल जायगा, शुद्ध ज्ञान जगेगा तो वह धन का दान भी कर सकता है। यों ही समझिये कि ज्ञान का संकलन कर लिया तो आ गया ना। अब आज कोई तीव्रकर्म के उदय में उसका प्रयोग नहीं बना पाता, लेकिन कभी अवसर आयगा तो प्रयोग किया जा सकता है, इस दृष्टि से भला कह लीजिए मगर सफलता तो इसी में है कि जो ज्ञान पाया है उसका सदुपयोग किया जाय।

**वस्तु को स्वतःसिद्धता और स्वतःपरिणमनशीलता—** अब तक जो कुछ कथन किए गए हैं उन कथनों से सार-सार निर्णय इस प्रकार जानना चाहिए, प्रथम तो यह निर्णय बना लें कि यह आत्मा स्वतःसिद्ध है और

स्वतःपरिणमनशील है। वस्तु के स्वभाव पर दृष्टि दीजिए, वस्तु परिणमती रहती है निरन्तर। ऐसा कोई समय बीच में नहीं आता कि जब परिणमन न हो। तो ऐसा वस्तु का परिणमते रहना जो स्वभाव है तो क्या किसी वस्तु की कृपा से मिला है? वस्तु स्वयंसिद्ध है तो स्वयं ही वह परिणमनशील है, अब वस्तु का अपनी स्वरूप सीमा में परिणमना यह उसका स्वभाव है। निरन्तर परिणमता रहेगा। उस परिणमनमात्र को देखा जाय तो यह कह सकेंगे कि प्रत्येक परिणमन निरपेक्ष होता है। परिणमन की दृष्टि से यही बात है। जैसे कि किसी पुरुष ने तबला बजाया तो उसमें से जो ध्वनि निकली, जो शब्द निकला, वह शब्दपरिणमन निरपेक्ष है कि सापेक्ष है। यद्यपि बजाने वाले के हाथ का संयोग हुआ और ऐसी स्थिति में ही वह निकला, मगर बजाने वाला तो तबले पर हाथ का संयोग रखकर निवृत्त हो गया। अब इसके बाद में वादक का कुछ परिणमन नहीं रहा, ऐसी स्थिति में जब वे भाषावर्गणायें, वे पौद्गलिकवर्गणायें जब शब्दरूप परिणमने लगीं तो उस परिणमति में किसी की अपेक्षा नहीं है। अपनी परिणमति होने से अपने परिणमन में किसी की अपेक्षा नहीं रहती। हाँ, उस समय निमित्त सन्निधान अवश्य होता है और निमित्त सन्निधान बिना विकारपरिणमति नहीं बनती, मगर परिणमन की दृष्टि से देखा जाय तो वह किसी दूसरे का परिणमन लिए बिना स्वयं अकेले में परिणम रहा है और इस दृष्टि से वह परिणमन निरपेक्ष है, पर एकान्त नहीं करना है। कारण यह है कि विकारपरिणमन किसी परउपाधि के सन्निधान बिना हो ही नहीं सकता। तो वस्तु स्वतःसिद्ध है, स्वतःपरिणमनशील है। फिर भी यदि वस्तु में विकार हो रहा है तो समझना चाहिए कि वह विकार किसी अन्य वस्तु का निमित्त पाकर ही होता रहता है। कोई वस्तु अपने परिणमन के लिए किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। निमित्त सन्निधान होने पर जो परिणमन होने को है, योग्य है, कारणकार्यविधान में निश्चित है वह हो रहा है, पर वह अपने उस परिणमन के लिए अपेक्षा नहीं करता कि यदि परवस्तु उपाधिभूत न मिले तो वह अपना परिणमन रोक देगा। वस्तु में परिणमनस्वभाव है वह परिणमन करता ही रहेगा। जैसा निमित्त मिला उस रूप कर लिया तब भी वह अपनी परिणमनशीलता के स्वभाव से परिणम ही तो रहा है। तो हर परिस्थितियों में आत्मा या सभी द्रव्य परिणमनशील हैं और परिणमनशीलता के कारण परिणमन निरपेक्ष हुआ करता है। अर्थात् परिणमने के लिए पदार्थ को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।

निमित्तसन्निधान में ही विकृति के होने पर भी परिणममान वस्तु की स्वतःसिद्धता व स्वतःपरिणमनशीलता— पदार्थ में अगर विशेष बात की चर्चा की जाय कि लो यह है विकारपरिणमन इसकी चर्चा करो, तो उसका उत्तर होगा कि हाँ विकारपरिणमन है। पर है नैमित्तिक विकारपरिणमन। तो उसमें जो यह विशिष्टता आयी कि वह नैमित्तिक है। किन्तु परिणमन नैमित्तिक नहीं। परिणमन तो पदार्थ में अपने स्वभाव से होता है। परिणमन में जो वैशिष्ट्य है वह वैशिष्ट्य ही नैमित्तिक हुआ करता है। अब इस प्रसंग में इस ओर ध्यान दें कि औपाधिक नामक विशेषभाव फिर बनते किस तरह हैं सुनो। वस्तु का तो एक व्रत है

कि अपने परिणमनस्वभाव के कारण वह परिणमता ही जाया। अब यदि उपाधि समीचीन है और इस परिणमने वाले पदार्थ में उस तरह के परिणमन की योग्यता है तो वह पदार्थ स्वयं विकाररूप परिणम लेता है। तो चूँकि वह विकार उस निमित्त सन्निधान को पाकर हुआ है सो यह विशिष्टता औपाधिकरूप को धारण करती है। यदि औपाधिकभाव की योग्यता नहीं है तब तो पदार्थ स्वभावरूप ही परिणमता है, पदार्थ में तो परिणमने की टेक पड़ी हुई है, स्वभाव पड़ा हुआ है, वह परिणमे बिना नहीं रहता। जब हमने अपने आत्मा को केवल अपने आत्मा के रूप में देखना है, केवल उस ही को निरखना है, उसकी ही बात करना है तो ऐसी स्थिति में यह आत्मतत्त्व केवल अपने में केवल अपने रूप ही दिखेगा। उसमें दूसरे की बात नजर न आयगी। तो अपने आत्मतत्त्व को जब देखें तो उसमें दो बातें नजर आयीं कि वह स्वतःसिद्ध है और परिणमनशील है। ये दो बातें अलग-अलग नहीं हैं। वह एक ही चीज है। मैं और किस प्रकार का हूँ उसको बताने के लिए यथार्थतया कोई वचन न थे तो भेद करके दो दृष्टियों से इसका कथन किया है। मैं हूँ और निरन्तर परिणमता रहता हूँ।

**आत्मपरिचय का प्रश्न और उत्तर—** किसी ने पूछा- भाई आप कौन है और क्या काम करते हैं? तो आत्मा की जानकारी इन दो बातों से भली प्रकार होती है। किसी मनुष्य से आप परिचय करते हैं तो दो बातें आप जानना चाहते हैं, उन दो बातों के जाने बिना आपको अन्य बात जानने की इच्छा ही नहीं होती। वे दो बातें हैं- यह कौन है और क्या काम करता है? अब इसके बाद यदि अन्य बातें पूछी जाती हैं कि यह कहाँ रहते हैं, किसके रिश्तेदार हैं, कैसा कैसा सम्बन्ध है, अब इसकी क्या परिस्थिति है? तो समझ लेओ मगर सारी समझ इन दो बातों की समझ के बाद चलती है। आप कौन है और क्या करते हैं? कोई पूछे आपसे कि आप कौन हैं आप क्या करते हैं? तो जरा उत्तर तो दीजिए ढंग से। उत्तर आप दे दीजिए कि मैं आत्मा हूँ और निरन्तर परिणमन करता हूँ। यह है आपका परिचय। आपसे पर्याय का परिचय नहीं पूछा जा रहा, शरीर का नहीं पूछ रहे, जिसमें अहं अहं प्रत्यय बन रहा है, मैं हूँ, मैं हूँ, यह बात जिसके बन रही है, हम उसकी बात पूछते हैं कि आप कौन हैं कौन और क्या काम करते हैं? तो उत्तर मिलता है कि मैं आत्मा हूँ और निरन्तर परिणमन किया करता हूँ। यहाँ छुट्टी नहीं है कि मैं 6 घंटे काम करता हूँ बाकी छुट्टी। या दिनभर काम करके अब रात को विश्राम लें और यहाँ कोई भाग भी नहीं है कि जैसे दो बार में शिफ्ट में स्कूल लगता है। यहाँ तो निरन्तर परिणमन होता है। एक दिन में होते 24 घंटे, एक घंटे में होते 60 मिनट, एक मिनट में होते 60 सेकेण्ड और एक सेकेण्ड में होती असंख्यातों आवलियाँ, और एक आवली में होते हैं असंख्याते समय। जिसको आप समझना चाहें सुगम रीति से तो इस तरह समझें कि जैसे अपने नेत्रों की पलक बड़ी जल्दी-जल्दी गिरावें उठावें तो उस उतने समय में भी अनगिनते आवलियाँ और अनगिनते समय बनते हैं। उनमें से प्रति समय यह आत्मा परिणमन करता रहता है। तो इतना उसका तेज रोजगार है। कोई कहता है यह कुछ काम नहीं करता है, बड़ा आलसी है, पर आलसी कोई हो कहाँ सकता है? पदार्थ का

स्वभाव है कि वह निरन्तर परिणमन करता रहे। तो यही है उसका परिचय। तो मैं हूँ और निरन्तर परिणमन करता रहता हूँ।

**पदार्थ की अन्तःस्वतन्त्रता—** यदि किसी अपने आपके आत्मा का श्रद्धान हो जाय तो उसकी जिन्दगी प्रकाश में होती। उसे कभी आकुलता ही नहीं हो सकती। मैं हूँ और परिणमता रहता हूँ। जो मेरा स्वरूप है वही मेरा वैभव है। बस वही मैं हूँ। मैं परतंत्र नहीं, मैं किसी का कुछ नहीं, किसी के अधीन नहीं। यह तो जगत की व्यवस्था है। हम स्वयं अपनी इच्छा से दूसरों में रहते हैं, रमते हैं, परतंत्र बनते हैं। तो हम स्वतंत्रता से ही परतंत्र बन रहे हैं। कहीं परतंत्रता के कारण परतंत्र नहीं बन रहे। हमारी इच्छा है, हम उसमें हित मानते हैं, सुख मानते हैं, घर में रहते हैं तो आप उसमें अपनी भलाई समझ रहे हैं, आराम मिलता है, तो आप पर बच्चों का, औरों का, सभी का भार नहीं हैं क्या? वह भार अपने ऊपर लेना ही पड़ेगा अन्यथा आराम गायब हो जायगा। तो आप स्वतंत्रता से परतंत्र बन रहे हैं। वहाँ भी आपकी आजादी है। उसे बदल दें और सत्य आजादी की ओर आये तो अपने आप सत्य आजादी आ सकती है। श्रीरामचरित में बताया कि सीता ने श्रीरामचन्द्र का बड़ा संग निभाया, जंगलों में फिरी, तो बतलाओ सीता ने ये सब काम परतंत्रता में किए या स्वतंत्रता से? अरे सीता के परिणाम, सीता के भाव, सीता की इच्छा ऐसी थी कि वह श्रीराम के साथ रही। लोग तो समझते होंगे कि ये सभी काम सीता ने परतंत्रता से किए। यों ऊपरी दृष्टि से देखो तो अरे परतंत्रता का जीवन स्त्री का ही नहीं, पुरुषों का क्या कम है? पुरुष तो स्त्री से भी अधिक परतंत्र हैं। विचार करके देखो- अनुभव बतायेगा। स्त्री भी अगर घर में रहेगी। परतंत्र हो रही हो तो वह भी अपनी स्वतंत्रता से परतंत्र हो रही है। हाँ तो सीता की बात सुनिये, सीता राम की कैसी सहचारिणी रही। अब देखो अग्नि परीक्षा के बाद सीता ने अपनी आजादी का रूप बदल दिया, उस समय किसी ओर न देखकर जंगल की ओर चल दी, श्रीराम समझाते हैं, अपनी गलती की माफी मांगते हैं, क्योंकि एक कुछ अपराध भी तो हो गया था। श्रीराम कहते हैं- ऐ सीते ! हमारा अपराध क्षमा करो, अब घर में सुख से रहो। लक्ष्मण भी बहुत-बहुत समझाते हैं, पर सीता ने किसी की एक न सुनी। सीता ने अपनी आजादी का मुख बदल दिया और वही सीता जब घर में थी तो उसकी आजादी का मुख दूसरी ओर का था।

**अन्तःस्वतन्त्रता के परिचय द्वारा दुर्लभ मावनजीवन को सफल करने का अनुरोध—** जितने भी जीव हैं वे सब हैं और अपना परिणमन किया करते हैं। अन्य से अन्तः कोई मेल नहीं है। यहाँ का मेल तो तब तक का है जब तक कषायों का मेल है। जब खुद की कषाय के विपरीत काम दूसरे के द्वारा हो जाता है तो चाहे वह घनिष्ट मित्र रहा हो, फिर भी वह शत्रु बन जाता है। और यदि कषाय से कषाय मिल गई तो वह मित्र बन जाता है। तो यहाँ की इस मित्रता व शत्रुता में क्या दम? अपने आपके बारे में यह निर्णय बनायें कि मैं हूँ और निरन्तर परिणमता रहता हूँ, इसमें किसी दूसरे का दखल नहीं है, क्या करेगा कोई? कर भी नहीं

सकता कुछ। मुझमें मैं ही सम्पूर्ण अपने भाव बनाकर किस ही रूप परिणति करूँ, पर दूसरा कोई मेरी इस परिणति को कर देता हो, ऐसा नहीं होता। तो यह है भीतरी आजादी। इस आजादी का जिसे भान हो जाता है उसको ज्ञानप्रकाश मिलता है, उसका जीवन सार्थक हो जाता है। बात यह है कि अनादिकाल से स्थावर कीड़ा मकौड़ा आदिक भवों में जन्म ले लेकर किसी प्रकार आज मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन मिला है, सद्बुद्धि मिली है, समझने की शक्ति मिली है, इसका यदि सदुपयोग है तब तो जीवन की सार्थकता है अन्यथा यदि इसका सदुपयोग नहीं किया जा सका तो जैसे अनन्त जीवन बिता दिए वैसे ही यह जीवन भी व्यतीत हो जायेगा, लाभ कुछ न मिल पायेगा। यहाँ किसी बात की हठ करना, आग्रह करना ये सब बेकार की बातें हैं। क्या चाहना? लौकिक इज्जत की चाह में बहुत विकल्प करने पड़ते हैं। धन किसलिए बढ़ा रहे? इसीलिए कि इज्जत रहेगी। पार्टी बना रहे। किसलिए? इसीलिए कि इज्जत बढ़ेगी। मायाचार करके अनेक प्रोग्राम रचे जा रहे हैं, किसलिए कि इज्जत बढ़ेगी। अरे इज्जत चाहने वाले पुरुष, तू किसी की किससे क्या इज्जत चाहता है, यह तो बड़ा अज्ञानमोह का अंधकार छाया हुआ है। देख तो यह तीन लोक की रचना कितनी महान है? 343 घनराजूप्रमाण लोक है, इस लोक में आज तू इस जगह जन्मा हुआ है और मरण करके न जाने कहाँ पहुँचेगा? आज 10, 20, 50 वर्ष के लिए तू मनुष्य बना है। मरण करके न जाने किन योनियों में पहुँचेगा। जिन गधा सूकरों को देखकर हम आप ग्लानि करते हैं वैसी ही हम आपकी भी गति होगी तो फिर क्या हाल होगा? अरे तू किन-किन की इज्जत को अपने चित्त में लादे हुए हैं। अपनी इज्जत संभालो, अपने स्वरूप की दृष्टि करो, अपने में अपने आपका अनुभव करके सच्चे प्रसन्न बन जाओ। देख, सहज परमात्मतत्त्व की उपासना में तुझे सर्व वैभव प्राप्त होगा और इस अपने आपकी दृष्टि से अलग होकर बाहर में किसी का राग करेगा, किसी से मोह करेगा तो यह दुर्लभ मानव-जीवन निष्फल हो जायेगा। मिलेगा कुछ नहीं। हो उनके पास तो वे कुछ दें और हो भी तो वह उनके लिए है। मुझे क्या देंगे? हम भगवान की भक्ति करते हैं तो वहाँ भी भगवान हमें क्या देते हैं और है सब कुछ उनके पास उनका। वे अपने में रमते हैं और करते हम भक्ति इसलिए कि उनके पास वह सब वैभव है, उसका हमें दर्शन हो जाय, वह हमारी दृष्टि में आ जाय तो मैं भी अपने आपकी संभाल सुगमता से कर लूँगा। यही सम्बन्ध है भक्त का और प्रभु का। तो यह जानें अपने आपमें कि मैं हूँ और निरन्तर परिणमता हूँ, अपने में स्वयं ही स्वतंत्र हूँ, यह बोध हो तो हम धर्मपालन की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

**उपाधि व विकार्य उपादान का साहचर्य—** इस प्रसंग में एक यह जिज्ञासा हो सकती है कि जब आत्मा में औपाधिक भाव की योग्यता नहीं रहती तब भी क्या कर्मउपाधि सन्निधान में रहती है? इस जिज्ञासा का यह तात्पर्य है कि कोई जीव ऐसा विशुद्ध हो जिसमें अब रागद्वेषरूप परिणमन की योग्यता नहीं रही तो क्या उस जीव के समीप भी उपाधिभूत कर्म रहा करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेपरूप में यह है कि जहाँ इतनी

विशुद्धि है, औपाधिक भाव की योग्यता नहीं रहती वहाँ उपाधिभूत कर्म सन्निधान में नहीं रहा करते हैं। भले ही कार्माण द्रव्य सर्वत्र है, पर वह वहाँ बद्ध नहीं, उपाधिभूत नहीं। कारण यह है कि ऐसे ही जीव में स्वभाव योग्यता रहती है याने औपाधिकभाव न रहे, ऐसी पवित्रता रहती है। औपाधिक भाव की योग्यता भी न रहे ऐसी विशुद्धि वहाँ रहती है जहाँ उपाधि भी सन्निधान में नहीं है। हाँ, कोई अवसर ऐसा होता है कि उपाधि भी है, कर्म का उदय भी है फिर भी औपाधिक भाव नहीं बन रहा। यह स्थिति उच्च गुणस्थान में होती है। जैसे दशम गुणस्थान में उदय चल रहा है, मगर उस उदय में यह सामर्थ्य नहीं है कि ऐसा राग विकार बने कि मोहबंध होने लगे। वहाँ भी यह समझना चाहिए कि उदय ही उस प्रकार के अनुभाग वाला है। इसी तरह यह भी बात जाननी चाहिए यह भी न हो सकेगा कि जीव में विकाररूप परिणामने की योग्यता हो और उपाधि सन्निधान में न हो। योग्यता ही उस जीव की होती है जिस जीव के पर्याय में औपाधिकपना आयेगा, ऐसा औपाधिक भाव बनने के लिए रागद्वेष कषाय होने के लिए बद्ध उपाधिकर्म होता ही है। देखिये- जिसमें वर्तमान में विषयविकार की योग्यता पड़ी है तो यह योग्यता बनी कैसे व किसके? सकर्मा जीव के बनी, जिसने विकार करके प्रचुर अनुभाग स्थिति बंध किया था। अब वे प्रकृति उदय उदीरणा में आते हैं, जो यों उपाधि से ही बद्ध हैं, उनके विकार भाव हुआ करते हैं।

**निमित्तनैमित्तिक भाव मानने में ग्राह्यशिक्षा—** यहाँ मूल प्रयोजन यह समझना कि निमित्तनैमित्तिक भाव मानने में हमको क्या बल मिलता है? क्या शिक्षा मिलती है और हम किस तरह हितपथ में बढ़ सकते हैं? यों बढ़ सकते हैं कि जब हमने यह निर्णय किया कि आत्मा में जो रागद्वेष विकार उत्पन्न होते हैं वे कर्मोदय का निमित्त पाकर होते हैं, तो झट हमको यह अंतःप्रकाश मिला कि विकार करना तो मेरा काम नहीं, स्वभाव ही नहीं। मेरे स्वभाव में रागादिक भाव नहीं हैं, ये तो परभाव हैं, कर्मोदय का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए परिणाम हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं, ये बाहरी बातें हैं। अहा, देखो इन रागादिक भावों के कारण हमने अनादिकाल से दुःख भोगा, सो कितनी बड़ी भूल की। इन भावों को हमने अपनाया, ये मेरे नहीं हैं, ये परभाव हैं। नैमित्तिक भाव हैं। तो निमित्तनैमित्तिक भाव का यथार्थ निर्णय करने से अंतःस्वरूप में दृष्टि दृढ़ता से बन जाती है और उन परभावों से उपेक्षा हो जाती है। बात यह यहाँ बनानी है।

**निमित्तनैमित्तिकभाव के अपलाप के उद्यम की निरर्थकता—** कुछ लोग ऐसा कहकर कार्यकारणभाव की बात उड़ाना चाहते हैं, यों कहकर कि अगर हम समझेंगे कि निमित्त सन्निधान में कार्य होता है, कारण से कार्य होता है तब तो फिर एक काम को करने के लिए कारण पर दृष्टि रखेंगे। कारण जुटाओ, तो विकल्प बढ़ेंगे, मगर वे यह बात नहीं समझ रहे हैं कि जिन कारणों को जुटाने की बात नहीं समझ रहे हैं वे नियत कारण नहीं हैं, निमित्त नहीं है, वे तो आश्रयभूत हैं। इस अन्तर को खूब निर्णय से आप समझ लीजिए तब कारणकार्यविधान के सम्बन्ध में सही दिशा मिल सकेगी। जीव में जितने विकारपरिणाम होते हैं उनके होने में

निमित्त तो है कर्म का उदय और कर्म के अतिरिक्त जितने भी अन्य पदार्थ हैं, जो कि उस प्रसंग में आते हैं वे सब हैं आश्रयभूत कारण। निमित्त कारण और आश्रयभूत कारण में अन्तर है। लोग तो आश्रयभूत कारण की ओट करके इस निमित्तनैमित्तिक विधान को उड़ा देना चाहते हैं लेकिन उड़ाने में फायदा क्या है? निमित्तनैमित्तिक भाव यदि यथार्थ मान लिए जायें तो हमें स्वभाव में बढ़ने की ओर प्रेरणा मिलती है, क्योंकि रागादिक भावों को नैमित्तिक समझकर, परभाव जानकर उनसे उपेक्षा कर देंगे। मैं विकाररूप नहीं हूँ, मैं अविकार स्वभाव हूँ।

**निमित्त को कर्ता व कारयिता मानने में दोषापत्ति—** जहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव मानने में एक सुविधा मिली वहाँ निमित्तनैमित्तिक का एक एकान्त और सीमा से बाहर की बात मान लेने में आपत्ति भी आ जाती है। यदि कोई यह हठ करे कि कर्म ही रागादिकरूप जीव को बना देता है तो लो जो लोग मानते हैं कि ईश्वर इस जीव को सुख दुःख देता है तो जैसे वहाँ जीव सब असहाय हैं, असमर्थ हैं, ईश्वर की मर्जी से सारी बात बनती हैं, वही पूरा मालिक है, यों ही कर्म भी पूरा मालिक बन गया। अब हम भी असहाय हो गए, कुछ भी न रहा, क्योंकि मेरे में कोई करतूत ही नहीं, मेरे में कुछ परिणमन ही नहीं। जैसे मोटे दृष्टान्त में लोग समझते हैं कि कुम्हार ने घड़े को बना डाला, इसमें मिट्टी का क्या हक है? यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से वहाँ पर भी इस प्रकार का कर्तृत्व नहीं है कि पर का पर से कर्तृत्व हो, पर उसकी चर्चा न करके एक मोटी दृष्टि से जो निरखा जाता है उसे दृष्टान्त में लेकर बता रहे हैं। तो यों ही कर्म ने रागरूप परिणमा दिया। जीव स्वयं परिणमा और उसमें कर्म निमित्त हैं यह बात तो उसमें तकी गई, किन्तु कर्मों ने जीव को परिणमा दिया अर्थात् जीव कुछ न था, परिणमने वाले को नहीं परिणमा दिया। तो यहाँ फिर वही विडम्बना होगी कि मुक्ति का अवसर ही न मिल सकेगा।

**निमित्तनैमित्तिक भाव मानने में मुक्ति के अवसर की व्यर्थ आशंका—** इस प्रसंग में एक बात और समझें कि जिन लोगों को यह आशंका है कि निमित्तनैमित्तिक भाव मान लेने पर फिर मुक्ति का अवसर न मिल जायगा, क्योंकि कर्म के निमित्त से राग बना और राग बनने से फिर नया कर्मबन्ध हुआ। फिर उसका उदय आने पर राग बना। यों मुक्ति का अवसर न मिल पायेगा। ऐसी शंका करने वाले जरा इस ओर ध्यान दें कि करणानुयोग शास्त्र में जो बंध व्यवस्था बतायी गई है वह गुणहानि के रूप से बतायी गई है। जैसे किसी जीव ने 30 दिन पहिले कर्मबंध किया था तो उसका बँटवारा उसी समय हो गया था कि आबाधाकाल के बाद पहिले समय में इतने परमाणु इतने अनुभाग वाले उदय में आयेंगे, दूसरे समय में उससे कम, किन्तु अधिक अनुभाग वाले तीसरे समय में उससे कम, व अधिक अनुभाग वाले इस तरह कम परमाणु व अधिक अनुभाग होते-होते समझ लीजिए कि कुछ कम 30 दिन तक का बँटवारा बन गया था और किसी ने फिर 29 दिन पहिले कर्मबंध किया था तो उसका भी बँटवारा बन गया, इस तरह से अब असंख्याते भव पहिले



तक के बांधे हुए कर्म भी इस समय उदय में आ रहे हैं और उनका वहाँ विभाग बन गया था। अब जो भी उदय में आ रहा है, हम एक समय के बांधे हुए कर्म की बात न कह सकेंगे ये तो असंख्याते भवों में बांधे हुए कर्म कुछ-कुछ विभक्त रूप में एकत्रित उदय में है, कुछ ऐसी स्थिति में अनेक बार समय आ सकता है कि कभी हीन अनुभाग हो, कभी विशेष अनुभाग हो तो ऐसी स्थितियों में वहाँ क्षयोपशम लब्धि होती है, फिर विशुद्ध लब्धि होती है, फिर आखिर दोनों ओर से निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव के भाव का निमित्त पाकर कर्मदशा बनती है व कर्मदशा का निमित्त पाकर जीव भाव बनता है। एक ओर से ही तो निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं है, फिर उत्तरोत्तर भाव विशुद्ध बने, उसका निमित्त पाकर कर्मों में संवरनिर्जरा बड़ी और मोक्ष मार्ग की धारा बन गई। तो जो करणानुयोग शास्त्र में कथन है उसके अध्ययन करने के बाद यह शंका नहीं रह सकती। निष्कर्ष में यह बात समझनी कि निमित्तनैमित्तिक भाव खण्डन के योग्य नहीं और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ कर देता है यह समर्थन के योग्य नहीं। इन दोनों प्रकार के निर्णयों में इसको सही दिशा प्राप्त होती है। देखिये जो पदार्थ हैं वे सब पदार्थ अपने आपमें परिणमने की शक्ति रखा करते हैं, तब कोई अपनी योग्यता को किसी अन्य से उधार नहीं लिया करता। पदार्थ में जो योग्यता रहती है उसके संस्कार तो पूर्व पर्याय से हैं, पर वह योग्यता, वह स्थिति, वह व्यक्ति किसी अन्य पदार्थ से प्राप्त हो, सो नहीं होती।

**सुख दुःख की ज्ञानपद्धति पर निर्भरता—** अपने आपके लिए यह निर्णय करें कि मैं इस लोक में अकेला स्वतंत्र आत्मा हूँ। मैं हूँ और जितने क्षेत्र में जितने निजप्रदेशों में जिस स्व में अनुभव होता है, वेदना होती है, सुख दुःख की अनुभूति होती है, मैं वह हूँ, इतना ही हूँ, इस एकाकी अपने आत्मस्वरूप पर जिनकी दृष्टि हो जाती है उनकी आकुलतायें, उनके बंधन, उनके भार प्रायः सब समाप्त हो जाते हैं। जैसे कहते हैं कि अब संसार ही क्या रहा? सोच लीजिए, सुख दुःख का होना अपने आपके विचार पर निर्भर है, अनुभव करके यहीं पर देख लीजिए। यहीं पर आप सब अनेक गृहस्थ हैं, आप सबमें से कोई-कोई तो बहुत ही अधिक गरीबी की स्थिति में हैं फिर भी वे दुःख नहीं मानते, हर स्थितियों में खुश रहते हैं, और बहुत से लोगों के पास बड़ी सुख सुविधायें हैं, कोई बाधाएँ नहीं हैं फिर भी अपने ऊपर बहुत बड़ा भार समझते हैं। विकल्पों के बोझ को लादकर दुःखी होते हैं। तो क्या कारण है कि कोई सुखी हो रहा, एक-सी बाह्यस्थितियाँ भी हों करीब-करीब तिस पर भी अन्तर आ रहा है, इसका कारण क्या है? एक भाई ने सुनाया था कि किसी जगह एक हलवाई था, उसके एक ही पुत्र था और उस हलवाई की यह आदत थी कि वह अपने ऊपर कोई भार नहीं मानता था। कोई विपत्ति आ जाय तो उसे वह विपत्ति नहीं समझता था। बड़ी से बड़ी बाधाओं में भी खुश रहता था। एक बार उसका बच्चा बीमार हुआ, गुजर गया तो उसको समझाने वाले लोग तो आंसू बहा रहे थे, पर वह हँसता था। वह जानता था कि क्या है? आया था और अपने आप चला गया, मेरा क्या गया? ऐसे भी साहसी लोग हैं और साहस क्या? यह तो एक अपने आन्तरिक परिणमों की बात है।

**मोहनिद्रा को त्यागने पर क्लेशों का परिहार—** जिस रागद्वेष मोह के कारण इतना दुःखी होना पड़ रहा है उस रागद्वेष मोह को त्यागें। है क्या यहाँ? कुछ भी नहीं। जैसे स्वप्न में कोई कितनी ही उलझन में आ गया हो, पर उलझन वहाँ कुछ नहीं, केवल एक विचार भर चल रहा है, उसी से सारी उलझनें हैं। एक सेठ गर्मी के दिनों में अपने घर में किसी ठंडे कमरे में सो गया। कमरे में कूलर भी लगा हुआ था, उसके अन्दर बड़े आराम के साधन थे। उसे सोते हुए में स्वप्न आया कि मुझे बड़ी गर्मी लग रही है, चलो समुद्र में थोड़ा सैर कर आयें, स्त्री बोली कि हम भी सैर करने चलेंगे, हमें भी तो गर्मी लग रही है, पुत्र भी सैर करने जाने को तैयार हो गये। पहरेदार भी सैर करने जाने को तैयार हो गया। सो घर में एक बड़ा ताला लगाकर सेठ सपरिवार समुद्र की सैर करने चला। नाव में बैठ गया। नाव कुछ आगे बढ़ी। (यह सब स्वप्न की बातें कह रहे हैं) करीब 1 मील दूर नाव समुद्र के अन्दर गई थी कि नाव एक भँवर के अन्दर पड़ गई, नाव डगमगाने लगी, अब नाविक बोला— ऐ सेठजी ! अब तो नौका बिना डूबे नहीं बच सकती। सेठ डरा, बोला भैया ! किसी तरह इस नौका को किनारे लगा दो, हम तुम्हें 5 हजार रुपये देंगे। नाविक बोला— अरे हमीं जब न बचेंगे तो आप रुपये किसे देंगे? फिर सेठ ने कहा— अच्छा 20 हजार रुपये देंगे। किसी तरह हम सबको बचाओ। नाविक ने साफ जवाब दिया और बोला कि आप दयालु हैं, हमें इजाजत दें, हम तैरकर निकल जावेंगे और अपने प्राण बचा लेंगे। जब नाविक नाव से कूदकर जाने को हुआ तो उस सेठ के दुःख का क्या ठिकाना? वह बेचारा सेठ बहुत अधिक दुःखी हो रहा था। देखो सेठ पड़ा तो है आराम के कमरे में, सब मित्रजन प्रतीक्षा कर रहे हैं कि सेठ जी जगें और कुछ गप्प-सप्प करें, पर देखिये उस समय सेठ की क्या हालत हो रही थी? अब यह बताओ कि उस सेठ का दुःख मेटने में कौन समर्थ है? क्या वे मित्रजन, क्या वे परिजन, क्या वे आराम के साधन उस सेठ के दुःख को मेटने में समर्थ हैं? अरे ये कोई समर्थ नहीं है। उसका दुःख तभी मिट सकता है जबकि वह जग जाय, उसकी निद्रा का भंग हो जाय। समझिये कि यहाँ मोह में माना जा रहा है कि यह मेरा घर है, ये मेरे घर के लोग हैं, ये गैर लोग हैं, यह मेरा धन वैभव है आदि।

**ज्ञानोपाय किये बिना क्लेश की अशक्यता —** भैया ! धन तो है परिमित और चाहते हैं सभी लोग, बस इसी से तो परेशानी बढ़ जाती है, बड़े दुःख छा जाते हैं। इन दुःखों को मेटने के लिए कोई समर्थ नहीं है। यदि कोई प्रेमी मिल जाय और कहे कि भैया ! हमसे ये 25 हजार रुपये ले लो और सुखी हो जाओ तो वह सुखी न हो पायेगा, बल्कि उसका दुःख बढ़ जायेगा। यहाँ जो लोग मित्र बन रहे हैं वे मित्र नहीं हैं, वे तो दुःख बढ़ाने के कारणभूत ही बन रहे हैं। यहाँ के मित्र करेंगे क्या? विषयों के साधन बढ़ा देंगे, उन साधनों से होगा क्या? दुःख बढ़ेंगे। तो इस लोक में इस जीव का कोई दूसरा शरण नहीं है। कितना ही भटकने के बाद, कितना ही दुःखी होने के बाद यदि इस जीव का कोई सुन्दर समय आयेगा तो वह समय इस ही रूप

होगा कि अपने आपकी ओर दृष्टि करेगा। दूसरा उपाय ही नहीं दूर करने का। बाकी उपाय तो यों समझिये कि थोड़े कठिन दुःख के विकल्प दब गए तो समझ लिया कि हमको आराम मिल गया। जैसे जिसको 105 डिग्री बुखार है और अब रह गया 105 डिग्री, तो जब कोई पूछता है कि भैया ! अब तुम्हारी कैसी तबीयत है? तो वह कहता है कि अब हमारी ठीक तबीयत है। अरे ठीक कहाँ है? अभी तो 5 डिग्री बुखार है। 98 डिग्री स्वस्थ हालत में रहता है। तो ठीक वह इसलिए कहता है कि उसके बुखार का कुछ अंश दूर हो गया है। तो संसार में सुख क्या है? बड़ा दुःख न रहे उसी को मान लिया कि सुख हो गया। किसी को कोई दुःख है तो लोग उसका दिल बहलाकर, उसके उपयोग को बदलकर उसका दुःख मेटने की कोशिश करते हैं, उसका भी प्रयोजन क्या है कि उस दुःख में उपयोग न रहे।

**मूढ़ों की आपत्ति की सर्वत्र सुलभता—** जिन-जिन जीवों के मोह ममता मिथ्यात्व है, जिन्होंने परद्रव्यों से अपना सम्बन्ध माना है और दूसरों से ही मेरा हित है, मेरी वृद्धि है, मेरा पोषण है, मेरा कल्याण है, ऐसी कुबुद्धि की है तो जिसके ऐसा कुमति कुश्रुतज्ञान है उसको तो आपत्ति ही होगी। जो मोही होगा वह सुख की आशा व्यर्थ ही करे। कोई एक मिया बीबी थे। मिया का नाम था बेवकूफ, और बीबी का नाम था फजीहत। उनमें अक्सर करके लड़ाई हो जाया करती थी। परन्तु लड़-भिड़कर भी फिर लड़ाई शान्त हो जाती थी। एक दिन ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत कहीं भाग गई। अब वह पुरुष उस फजीहत को इधर उधर ढूँढ़ने लगा। बहुत से लोगों से पूछा- भैया ! मेरी फजीहत देखी, तो जो जानते थे वे तो यही पूछते कि क्या आज लड़ाई हो गई थी, सो कहीं भाग गई? एक बार वह किसी ऐसे पुरुष से भी पूछ बैठा जो उससे अपरिचित था, सो पहिले तो वह यही न समझ सका कि इसके पूछने का मतलब क्या है? सो पूछ बैठा कि आपका नाम क्या है? तो वह बोला- मेरा नाम है बेवकूफ। तो वह व्यक्ति बोला- भैया ! बेवकूफ होकर तुम कहाँ फजीहत ढूँढ़ते फिरते हो? बेवकूफ के लिए तो जगह-जगह फजीहत है। जहाँ ही खोटा बोल बोल दिया वहाँ ही लात घूसे हाजिर हैं। तो इसी तरह यह समझ लीजिए कि जहाँ मोह ममता है वहाँ सब जगह दुःख है।

**मोह विषमन से अन्तःस्वास्थ्य का लाभ—** अब सांसारिक दुःख कैसे मिटे? इस पर विचार करिये इस मोह ममता के विष का पहिले वमन करे तो ये दुःख मिटेंगे। कोई सोचे कि हम मंदिर में पहुँचें अथवा किसी सतसमागम में पहुँचे तो वहाँ दुःख मिट जायेगा सो ऐसी भी बात नहीं। वहाँ भी यदि मोह रहेगा तो दुःख मिलना निश्चित है। अरे इस मोह महाविष का भक्षण करके तूने अपने आपको मलिन बना दिया तो इस समय तू और तरह के इलाज न कर। इस मोह विष का वमन कर दे तो तेरा आन्तरिक दुःख मिट जायेगा। अब समझ लीजिए कि हम आप कितना सुलझे हैं, , कितना स्वच्छ हैं, कितना सुखी हैं, कितना आनन्द है? दुःख का जहाँ कोई काम नहीं। किस बात का दुःख मानना? धन अधिक बढ़ गया तो बढ़ जाने दो, बिल्कुल भी धन न रहे तो और भी अच्छा है। इस धन की तो बात क्या, यह देह भी न रहे तो बहुत ही अच्छा है,

अगर कुछ धन वैभव कम हो गया तो उससे आत्मा का क्या नुकसान हो गया? जो लोग अपने इस देह की बहुत अधिक सजावट करते हैं वस्त्राभूषणादि से तो उन्हें उससे कौनसी शान्ति मिल जाती है? क्या इन बाहरी सजावटों से कुछ भीतर में पवित्रता जग गयी? अरे इन बाहरी बातों से क्या फैसला करते? पवित्रता बनाओ, सम्यक्त्व जगाओ, सच्चा बोध होगा तो वही आपका वैभव है। यदि सत्य बोध नहीं है तो ये सब वैभव बेकार हैं, और बेकार ही नहीं हैं किन्तु आपके लिए अनर्थ करने वाले हैं। सम्यक् प्रकाश के बिना जीवन ही क्या है? इस ओर प्रयत्न करें और अपने आपको पवित्र बना लें।

**ज्ञानयोग्यता के अवसर का सदुपयोग करने का अनुरोध—** लोग सोचते हैं कि मोक्ष का प्रारम्भिक मार्ग भी बड़ा कठिन है। ज्ञान भी आना बड़ा कठिन है, तो उनकी यह बात व्यर्थ है। अरे कितना ज्ञान हम आप सबके पास है, कितने-कितने रोजगार कर लेते हैं, कितने बड़े-बड़े व्यापारिक कार्य संभाल लेते हैं और भी बड़ी-बड़ी समस्यायें सुलझा लेते हैं, इन लौकिक बातों में कितना दत्तचित्त हो जाते हैं, इतना विशिष्ट ज्ञान हम आपको है। पर एक अपने आपकी समझ के लिए कुछ भी ज्ञान का परिश्रम नहीं करते हैं। ज्ञान तो हम आप सभी में विशेष है पर एक सच्ची रुचि न होने से इस ओर उद्यम नहीं हो पाता, इस ओर दृष्टि नहीं जग पाती। जिन्दगीभर यही बात बनी रहती है कि ये सब बातें तो बड़ी कठिन हैं कुछ समझ में नहीं आती। जब 10 वर्ष के थे तब भी यही कहते थे, जब 60-70 वर्ष के बूढ़े हो गए तब भी वही बात कहते हैं। जैसे कहते हैं कि रात भर से पारे से उठाया। अरे सारी जिन्दगी किया क्या? उस ओर रुचि बढ़ायें, उस ओर लगे, अपने आपको विद्यार्थी मान लीजिए, फिर देखिये कि आपकी उन्नति होती है कि नहीं। जो जीवन गया वह तो गुजर ही गया, लेकिन अब तो बच्चों जैसा अपन को अनुभव करके विद्याभ्यास कीजिए।

**विद्यार्थित्व के संकल्प में विकारपरिहार की प्राकृतिकता—** जब आप अपने हाथ में कापी, किताब, कलम आदि लेकर चलेंगे तो आप अपने को विद्यार्थी अनुभव करेंगे। उस विद्यार्थीरूप अनुभव करने के कारण आपके कितने ही संकट स्वतः ही मिट जायेंगे। जब गांधीजी ने चर्खा चलाने की बात सभी को कही तो बहुत से लोग इस बात पर हँसते थे कि कहीं स्वतंत्रता जैसी महान् चीज चर्खा चलाने से प्राप्त हो सकती है? जब दो तीन घंटे काम करो तो कही चार आने का सूत तैयार होता था। लेकिन बात वहाँ यह थी कि वह चर्खा चलाना साधन था। किस बात का कि बड़े-बड़े आदमी भी (डाक्टर, बैरिस्टर, जज वगैरा भी) इन गरीबों के दुःख का अनुभव करेंगे। इससे सभी का चित्त विशुद्ध होगा, उनकी बुद्धि विशेष जगेगी और उससे फिर बात बनेगी। तो साधन ही तो था। यों ही समझिये कि हमारा अध्ययन वगैरा एक ऐसा विशिष्ट साधन है कि हम ज्ञानमार्ग में बढ़ें। चलो, पर की सेवा तो बहुत की, अब अपनी भी कुछ सेवा कर लें। शरीर को खूब भोजन कराया, अब कुछ आत्मा को भी भोजन करायें। आत्मा का भोजन है ज्ञान। उस ज्ञानमार्ग में बढ़ें तब तो समझिये कि हमारे जीवन का सदुपयोग हुआ। और यदि मोह ममता में ही बढ़ते रहे, रागद्वेष में ही रुलते

रहे, बूढ़े भी हो गए, मरणहार भी हो गए, फिर भी मोह सता रहा हो। और लोग समझाते हैं कि बब्बा ऐसा न करना चाहिए आपको। बब्बाजी मरण समय में अपने किसी कुटुम्ब की याद कर रहे हों और मान लो वही समय हो उसके आने का, वही समय हो उस बूढ़े के मरण का तो लोग कहने लगते हैं कि देखो इन बूढ़े बाबा के प्राण इस अमुक पर ही अटके थे। अरे इस मोहभरी जिन्दगी में कुछ लाभ नहीं है। ज्ञानार्जन करके अपने को सावधान बनायें और अपने में विराजमान परमात्मा के मनमाने दर्शन करके तृप्त रहें, यही एक सार की बात है।

**उपादान कारण का स्वरूप—** उपादान कारण के स्वरूप के सम्बन्ध में बताया गया है कि पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्याय का उपादान कारण होता है। केवल पर्याय जो द्रव्य से निरपेक्ष हो, ऐसी पर्याय का सत्त्व ही नहीं है। कोई पर्याय ही ऐसी नहीं होती। निराधार हो अर्थात् अपने आपमें द्रव्य के आधार बिना हो अतएव द्रव्य को अवश्य कहना पड़ेगा कि यह पर्याय का कारण है, किन्तु द्रव्य तो शाश्वत है, सदाकाल रहता है, तो जब द्रव्य शाश्वत है उसे ही उपादान कारण माना जाय तो सभी पर्यायें एक साथ उत्पन्न हो जानी चाहिए। अतएव मानना होगा कि जिस पर्याय से उत्पन्न होना है उससे पूर्व पर्याय में द्रव्य हो तब वह उपादान कारण है। यह बात कही जा रही है समुचित उपादान कारण की बात।

**पूर्वपर्यायव्यय की उत्तरपर्यायोत्पाद के लिये अकारणता की शंका और उसका समाधान—** अब उपादान कारण के सम्बन्ध में कोई जिज्ञासु यह प्रश्न कर सकता है कि जो पर्याय नष्ट हो गयी या जिसका विनाश है वह पर्याय अन्य पर्याय का कारण कैसे बन जायगी? पूर्वविकार जो नष्ट हो गया है वह उत्तरपर्याय योग्यता का कारण कैसे हो सकता है? परिणमन उसका कहना किसी दृष्टि में युक्त है लेकिन एक समय को परिणमन देखने की दृष्टि है। सूक्ष्मऋजुसूत्रनय की दृष्टि में यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो विकारपर्याय नष्ट हो गयी वह उत्तरपर्याय का कारण कैसे होगी? स्थूलरूप से यों समझा जाता है कि घट फूटेगा तो कपाल बनेगी, यद्यपि ये दोनों बातें एक साथ हो रही हैं लेकिन दृष्टि में ऐसा पूर्वा पर समझ में आता है अथवा कारणकार्य की बात समझ में आती कि घट फूटेगा तो खपरीयां बनेंगी, इसी तरह से प्रत्येक पदार्थ में एक ऐसी स्थूलतया दृष्टि बनती है कि पूर्वपर्याय नष्ट होगी तो उत्तरपर्याय बनेगी और इसी दृष्टि को लेकर जिज्ञासु का प्रश्न है कि जो पर्याय नष्ट हो गयी वह अन्य पर्याय का कारण कैसे होगी? जब उसका सत्त्व ही नहीं है अथवा उससे और पूर्वपर्याय की बात लेकर कही जाय तो भी यह प्रश्न होता है। पर समाधान उसका यों है कि जिस दृष्टि में केवल एक समय की बात निरखी जा रही है उस दृष्टि में कारणकार्य की चर्चा नहीं होती। ऋजुसूत्रनय का विषय बताया गया है परसम्बन्धरहित, इसी कारण ऋजुसूत्रनय इसमें स्थापनानिक्षेप नहीं कहा गया क्योंकि यह एक ही समय की परिणति को निरखता है। इस नय की दृष्टि में एक ही पर्याय है। वहाँ तो विशेषणविशेष्य भाव नहीं बन सकता। जैसे कोई कहे कि कौवा काला है तो वहाँ इस दृष्टि में यह

बेतुकी बात बन बैठेगी कि जितना कौवा है सब काला है अथवा जितने कोई काले होते हैं क्या वे सब कौवा कहलाते हैं? इस तरह यह बात बिना समान अधिकरण के नहीं बनती। इस कारण विशेषणविशेष्य भाव इस नय की दृष्टि में गलत है। ऋजुसूत्रनय के आशय में आकर विशेषण विशिष्यभाव की बात कहना असत्य है। और की तो बात क्या? कुछ कारणकार्य की बात नहीं बोल सकते, व्यवहार नहीं बता सकते, इतना भी तो नहीं कह सकते, मानो कहीं रूई में आग लग गयी और कहें कि रूई जल रही है सो यह बात ऋजुसूत्रनय में नहीं कही जा सकती, क्योंकि जो जल रही है वह रूई नहीं, वह तो अब खाक है, काला है या खाक जैसी चीज बन गई। अब उस जलने वाली रूई को ओढ़ने के काम में तो नहीं लिया जा सकता। और जो रूई है वह जल नहीं रही तो नय की दृष्टि तो इतनी पैनी है और इतनी अभेद की बात है कि जिसके अंश नहीं किए जा सकते। वहाँ कारणकार्य की चर्चा न हो सकेगी। अगर उपादान कारण की बात समझनी है तो इस रूप से समझें द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का समन्वय रखो तब उस आशय में कहा जायगा कि पूर्वपर्याय सहित द्रव्य उत्तरपर्याय का कारण होता है।

**उपादान में औपाधिक योग्यता और उपाधि के साहचर्य के सम्बन्ध में विचार—** अब रही औपाधिक योग्यता व उपाधि के मेल की बात, सो परिणमने वाले पदार्थ में औपाधिक योग्यता और उपाधि- इनका ऐसा सहचर सम्बन्ध है कि जब तक जीव में विकाररूप परिणमन की योग्यतायें हैं तब तक उपाधि है और जब तक वह अपने योग्य अविभाग प्रतिच्छेद सहित उपाधिरूप है तब तक समझना चाहिए कि इस अमुक पदार्थ में औपाधिक रूप से परिणमने की योग्यता है। जीव कर्मसहित है और इस कर्मसहित जीव में नाना विकाररूप बनने की योग्यता है। ये भिन्न बातें बराबर चल रही हैं और यह जीव अपने उपयोग को अन्तर्मुहूर्त में उपयुक्त बना पाता है, अतएव होती तो है अपने में प्रति समय में एक-एक पर्याय, मगर अन्तर्मुहूर्त धारा में जब वे पर्यायें चलती हैं तब उनका उपयोग होता है, उसका अनुभव जगता है। तो यों समझना कि प्रत्येक पदार्थ प्रति समय में निरन्तर अपना परिणमन करता है। मैं भी परिणमन करता हूँ और विकाररूप परिणमता तो हूँ, पर मेरे में अपनी परिणति से परिणमने की ही प्रकृति है अतएव यह परिणमन भी निरपेक्ष है, पर होता है यह उपाधि के सन्निधान में ही। कभी ऐसा नहीं होगा कि उपाधि के सन्निधान बिना विकार बन जाय, जैसे दर्पण के आगे हाथ किया तो दर्पण में हाथ का निमित्त पाकर छाया बनी। तो उस छाया परिणति को दर्पण ने केवल अपनी परिणति किया, हाथ की परिणति लेकर नहीं किया, लेकिन हाथ का सन्निधान पाये बिना वह छाया नहीं बन सकती। इस तरह जब हम निमित्त दृष्टि से देखते हैं तो वह परिणमन सापेक्ष है और जब केवल उसमें ही देखते हैं तो परिणमन निरपेक्ष है। हो गया, जैसा निमित्त मिला उस अनुकूल परिणम गया।

**तत्त्वनिर्णय का अपने आप पर घटन—** अपने आपमें ये ही सब बातें घटित करना है कि मुझमें जितने रागद्वेष विकार जगते हैं वे मेरी करतूत से, मेरी परिणति से बनते हैं, पर उनमें निमित्त है कम उपाधि, अतएव

ये परभाव हैं, इनसे मैं विकार हट सकता हूँ और मैं अपने स्वभाव में उपयोग बना सकता हूँ। प्रभु दर्शन से या अन्य-अन्य प्रकार की धर्म पद्धतियों से हम यदि अपने स्वभावदर्शन की शिक्षा पाते हैं, अपने आपमें उस सहज ज्ञान व भाव की दृष्टि जगा पाते हैं तब तो समझिये कि हमने वस्तुतः धर्मपालन किया और यदि केवल मंदकषाय हुई, इतने में ही संतुष्ट हो जाते तो लाभ तो है। मंदकषाय होने से पाप का बंध नहीं हुआ, लाभ तो हुआ, लेकिन उससे मुक्ति का मार्ग मिल जाय, सो नहीं बन सकता। मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है सच्चा विश्वास होना, यथार्थ ज्ञान होना, अपने में रम जाना मोटी सी बातें हैं। इस जीव का दूसरे जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, बिल्कुल स्पष्ट बात है। और यह दूसरे के बारे में जल्दी विदित हो जायगा। यह पुरुष इस पुरुष से इतनी प्रीति करता है, सम्बंध क्या है? न्यारे-न्यारे हैं। दूसरे पर जब घटित करके देखते हैं तो बात जरा जल्दी समझ में आती है, किन्तु अपने आप पर घटित करते हैं तो जरा देर में बात समझ में आती है, क्योंकि अपने में वह राग बसा हुआ है। रागभाव को जरा ढीला करके निरखें तो अपने बारे में भी समझ में आयगा कि मेरे द्रव्य से अन्य पदार्थ का कुछ भी सम्बंध नहीं है, बात यह सत्य है, पर ऐसा मान लो, आपको सच्चा दर्शन मिल जायगा। देह की प्रकृति जुदी है, आत्मा की प्रकृति जुदी है। यहीं निरख लो, देह तो रूप, रस, गंध, स्पर्शरूप परिणमता रहता है, इसकी प्रकृति जड़ता की है, वह मूर्तिमान है। इसमें सड़नगलन बनता रहता है, मगर आत्मा इसमें भीतर जिसमें मैं हूँ, 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान चलता है, उसमें जानने समझने की प्रकृति पड़ी हुई है, उसमें सड़नगलन नहीं है। हाँ, यह विकृत होता है, अल्प होता है, अन्यरूप से समझते हैं, उसकी इस तरह की बातें तो हो जायेंगी मगर शरीर की प्रकृति के माफिक जीव की प्रकृति न आयगी। तो जब प्रकृति जुदी है तो जुदा ही है। शरीर का पदार्थ जुदा है और मैं आत्मतत्त्व जुदा हूँ। जुदा है ना। कितना बंधान हो होवे, बंधान होने पर भी जुदा है तो ऐसा मान लो कि मैं आत्मा अपने ज्ञानदर्शनरूप हूँ और यह शरीर रूप, रस, गंधादिकमय है। ऐसी दो बातें बिल्कुल पृथक् स्वरूप को लिए हुए हैं। मान लो ऐसा, बस आपको सच्चा दर्शन मिलेगा। यदि उसे स्वीकार कर लेते हैं, अपने आप पर घटित करते हुए उसे मान लेते हैं तो यहाँ सत्यदर्शन प्राप्त होगा।

**बन्धन का विवरण—** बंधन की बात देखो, कहते हैं- जीव के साथ कर्म का बंधन है, बात सही है, कहीं यह जीव कर्म से न्यारा बैठकर बता न सकेगा। अभी लेकिन बंधन किस तरह का है? दो रस्सियों की एक गांठ लगाने की तरह जीव का कर्म का बंधन नहीं है। किन्तु निमित्तनैमित्तिक भाव का बंधन है। यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप बंधन होता है मगर एक क्षेत्रावगाह होने से बंधन नहीं कहलाता। एक क्षेत्रावगाह तो उन कार्माणवर्गणाओं का भी है तो ऐसा विश्रसोपचयरूप रहते हैं कि जीव यदि इस शरीर को छोड़कर जायेगा याने मरण करेगा तो अन्य भव में जीव के साथ विश्रसोपचय की कार्माणवर्गणायें भी जायेंगी। वे कर्मरूप नहीं हैं, मगर कितना एकक्षेत्रावगाह बंधन है, पर एकक्षेत्रावगाह होने से वे हमारे सुख दुःख के कारण नहीं बनते हैं

तो एकक्षेत्रावगाह होने से बंधन न कहलायेगा। जो बंधन प्रकृत कहा जा रहा है, किन्तु एकक्षेत्रावगाह होकर भी निमित्तनैमित्तिकता जिसमें हो गयी हो उसे बंधन कहेंगे। तो असल में वे कर्म कर्म में ही बंधे हैं। जो पहिले के कार्माणशरीर हैं, जो पहिले के बंधे हुए कर्म हैं उनमें ही वे मिलकर कर्मरूप बनते हैं, सो वह बंधन हो गया, पर निमित्तनैमित्तिकता ऐसी बन गयी कि बंधन में पड़ा हुआ जीव भी बंध गया। जैसे मोटा दृष्टान्त लो, लोग जब गाय को बांधते हैं घर में, तो क्या करते हैं? गाय के गले को और रस्सी को पकड़कर नहीं बांधते हैं, रस्सी के एक छोर को दूसरे छोर में बाँध देते हैं। अब गला गले की जगह है, रस्सी में रस्सी है, फिर भी यह ऐसा विकट बंधन बन जाता है कि वह गाय कहीं जा नहीं सकती। वह बंधन एक निमित्तनैमित्तिक सम्बंध का है। यों ही समझिये कि कर्म के बंधन में ऐसा यह जीव पड़ गया है कि अब यह स्वतंत्रता से कहीं बैठ नहीं सकता।

**शरीरबन्धन में बेबशी—** कर्मबन्धन की बात तो दूर रही, शरीर का ही देख लो ऐसा दृढ़ बन्धन है कि जिसे अगर कहा जाय कि भैया इस शरीर को तो यहीं पड़ा रहने दो, थोड़ी देर के लिए आप यहाँ आकर बैठ जाइये। तो क्या ऐसा किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। तो इतना विकट व्यावहारिक बन्धन है फिर भी स्वरूपदृष्टि से देखें तो आत्मा में आत्मा ही है, शरीर में शरीर ही है, बंधन होकर भी किसी के स्वभाव में किसी अन्य के स्वभाव का बन्ध नहीं है। यों किसी को किसी ने निमंत्रण दिया कि भाई आपको हमारे यहाँ कल के दिन का भोजन करने के लिए निमंत्रण है, परन्तु भैया मेरी अधिक सामर्थ्य नहीं है, कृपा करके आप अकेले ही आ जाना और अपने आप आ जाना। अब यह बेचारा दूसरे दिन अकेले ही 10 बजे के करीब में पहुँच गया। निमंत्रण देने वाले ने कहा- भैया मैंने तो आपसे कहा था कि मेरी अधिक सामर्थ्य नहीं है, आप अकेले ही आना, पर आप अकेले ही क्यों नहीं आये? तो वह बोला- अकेले ही तो आये हैं।...अरे कहाँ अकेले आये हो? साथ में इतना बड़ा चोला (शरीर) तो लेकर आये हो? अब भला बतलाओ कैसे वह अकेला आवे? तो शरीर और जीव का इतना विकट सम्बन्ध है फिर भी शरीर शरीर में है, आत्मा आत्मा में है। ये दोनों एक दूसरे द्रव्य में कभी एकमेक नहीं हो पाते, यही कारण है कि आज तक जगत की व्यवस्था बनी हुई है।

**पदार्थस्वातन्त्र्य के बोध में अन्तःप्रकाश—** यदि एक द्रव्य दूसरा द्रव्यरूप हो जाता अथवा एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में सर्वतः प्रवेश हो जाता तो जगत शून्य हो जाता, कुछ भी न रहता, और न कोई व्यवस्था ही रहती। यह लोक जो दिख रहा है, यही सब यह प्रमाणित कर रहा है कि प्रत्येक तत्त्व अपने आपमें परिपूर्ण स्वतंत्र है, किसी की परिणति लेकर किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, स्वभाव लेकर कोई सत्त्व में नहीं है, इस तरह पदार्थों का जब यह स्वातंत्र्य ज्ञान में आता है तब अन्तःप्रकाश मिलता है। ओह ! यह मैं परिपूर्ण एतावन्मात्र हूँ, मेरी दुनिया इसी में है, मेरा कार्य इसी में है, मेरा फल इसी में मिलता है। जो कुछ मेरा



सम्बन्ध है, पहुँच है वह सब मेरे इस ही स्वरूप में है। जब यह भान होता है तब उसके बहुत विशुद्धि जगती है, सर्वविपत्तियाँ, पापपरिणाम उससे बिदा होने लगते हैं। पदार्थ का मूलस्वरूप जानने के लिए यह बताया जा रहा कि श्रद्धान करो कि प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक जीव, प्रत्येक अणु अपने आपमें परिपूर्ण है। और प्रतिसमय नया-नया परिणमन करता हुआ रहता है। ऐसा जानने में लाभ क्या मिला? मोह की गुंजाइश नहीं रहती। किसका मोह करना? वह अपना है ही क्या? उससे सम्बन्ध ही क्या है और मोह परिणाम करके हम अपना बिगाड़ तुरन्त किए जा रहे हैं, लाभ कुछ न मिलेगा।

**समागम के संयोगवियोग में अलाभ—** यह सब कुछ परसमागम यों ही मुफ्त मिला और यों ही मुफ्त जायगा। आज हम आप सबको ये जो पुण्यसमागम मिले हुए हैं वे मुफ्त ही मिले हैं और मुफ्त ही जायेंगे। पूर्वपौरुष से दैव मिला और दैव के उदय में ये समागम मिले, लेकिन वर्तमान में देखो तो यह भाव कर क्या रहा है? कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। तब तो यह बात हुई कि मिला तो मिला, गया सो गया, यों ही मुफ्त मिला, मुफ्त गया। यह ही सभी जगह दिख रहा है। कोई जीव किसी सेठ के घर पैदा हुआ, लो यों ही मिल गया है, गुजर गया तो लो यों ही गुजर गया। उस जीव के लाभ की कौन-सी बात आयी? और लाभ की बात अगर पूछते हो तो वह आयी कि पापलाभ मिला। वह संस्कारलाभ में मिला जिसकी वजह से अनेक कुयोनियों में जन्ममरण करना पड़ा। एक कोई चोर था। एक बार वह राजा के घुड़साल से एक घोड़ा चुरा लाया। उसे बेचने के लिए उसने एक बाजार में खड़ा कर दिया। बहुत से ग्राहक आये, उन्होंने बारी-बारी से उस घोड़े का दाम भी पूछा। सो था तो वह घोड़ा 300) की कीमत का और वह उसकी कीमत तिगुनी याने 1200) बोलता था। तो कौन इतनी कीमत में खरीदे? एक बार कोई ऐसा ग्राहक भी आया जो कि पुराना चोर था। उसने जब 1200 कीमत सुना तो पूछा कि ऐसी इसमें क्या खास बात है जो इसकी इतनी अधिक कीमत है? सो बताया कि इसकी चाल बढ़िया है।...अच्छा जरा यह मिट्टी का हुक्का पकड़ना, हम इसकी चाल देखेंगे, अगर हमें इसकी चाल पसंद आ गई तो हम 1200) दे देंगे सो वह मिट्टी का हुक्का पकड़ाकर आप तो घोड़े पर बैठ गया और उसे उड़ा ले गया। लो मुफ्त का घोड़ा मुफ्त में गया। बाद में वही ग्राहक जो कि पहिले आये थे लौटकर आते हैं तो पूछते हैं- भैया क्या तुम्हारा घोड़ा बिक गया?...हाँ बिक गया।...कितने में बिका? जितने में लाये थे उतने में बिक गया। मुनाफा कुछ नहीं मिला?...हाँ मुनाफे में मिला यह चार आने का मिट्टी का हुक्का। तो यों ही समझिये कि यहाँ हमें मिला क्या है? ये जो बाह्यपदार्थ हैं, बाह्यसमागम हैं, पुण्य के ठाठ हैं ये सब मुफ्त ही मिले हुए हैं, मुफ्त ही छूट जायेंगे, हाँ, लाभ में मिलेगा पाप का हुक्का। उस पाप के हुक्के को ही लेकर हम अगले भवों में जायेंगे। न मकान साथ जायगा, न धन वैभव साथ जायगा, न कोई इष्टजन साथ जायेंगे। तो ऐसी है यह लोक की स्थिति। हम यदि नहीं चेतते हैं तो हम तो अपना ही कल्याण कर रहे हैं।

**चंचल मन को शुभ कृत्यों में लगाये रहने में लाभ—** यह मन है, इसको बड़ा चंचल बताया गया है। चंचल मायने चलना और पुनः पुनः चलना, बारबार चलायमान होना। तो यह मन बड़ा चंचल है, चलायमान होता रहता है, इसको समझाकर रखना है। इसको किसी अच्छे कार्य में फँसाकर रखना है। किसी शुभ कार्य में उत्तम कार्य में अपने इस मन को लगाये रखना है, तभी अपना अच्छा निभाव हो सकता है और यदि यह मन बेकार रहता है। इस मन को किसी अच्छे कार्य में नहीं लगाते हैं, बेकार के कार्यों में ही इस मन को लगाये रहते हैं, अनेक प्रकार की व्यर्थ की मनगढ़ंत बातों में ही इस चित्त को रमाये रहते हैं तब तो फिर यह मन असंतुलित हो जायेगा। इस कारण से जो हम आपको करने योग्य कर्तव्य बताये गए हैं, जो हमारे धार्मिक व्यवहार हैं उनमें रहिए, उनका पालन करिये- सुबह उठकर नहा धोकर मन्दिर आइये, देवदर्शन कीजिए। भैया ! देवदर्शन करने से बड़ा लाभ मिलेगा। मन्दिर में आने से पंचपरमेष्ठी का स्मरण करने से चित्त में बड़ा परिवर्तन होता है। गुरु सेवा में रहें तो वहाँ भी परिणामों में विशुद्धि आती है। आप अनुभव करके देख लो कि हमारे जो धार्मिक कार्य हैं, जो कर्तव्य बताये गए हैं उन कर्तव्यों में हम आपको सदबुद्धि प्राप्त होती है। स्वाध्याय करें, संयम से रहें, इच्छा निरोध करायें, चीजों का परित्याग करें अथवा अपने धन का दान करें, ये जो श्रावकों के 6 मुख्य कर्तव्य प्रतिदिन के बताये गए हैं उनमें अपना मन लगायें, इससे अपने आपकी बड़ी रक्षा है और इन कार्यों में दत्तचित्त रहने से अपने उस शुद्ध तत्त्व के दर्शन करने का बड़ा अवसर मिलता है। सब कुछ करके भी उद्देश्य अपना सही बनायें कि मुझे अपने सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन करना है, उसी में अपना उपयोग रखना है, उसी को अपने ज्ञान में लेना है, यही हमारा एक मुख्य कर्तव्य है।

**जीवपरिणाम व कर्मदशा का परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव—** संसारी प्राणियों को जो सुख दुःख रागद्वेष जीवनमरण आदिक होते हैं उनके होने की व्यवस्था इस प्रकार है कि कर्म के उदय का निमित्त पाकर व अनेक आश्रयभूत पदार्थ का नोकर्म पाकर रागादिक विकार हुआ करते हैं। इस सम्बन्ध में कोई यदि यह जिज्ञासा करे कि विरुद्ध परिणामन हो गया, भले ही निमित्त के सन्निधान में उपादान कारण अपने स्वभाव से परिणामता है लेकिन आखिर निमित्त के अधिकार की बात तो हो गई कि निमित्त हो तो वहाँ जीव को परिणामना पड़ता है। इस सम्बन्ध में समाधान पाने के लिए पहिले तो यह समझ लेना चाहिए कि जीव परिणाम और कर्मपरिणाम का परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म में बन्धन संवर निर्जरा होती रहती है, और कर्म के उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशमरूप अवस्था का निमित्त पाकर जीव में विकार गुणविकास हो जाया करता है। केवल एक ओर से ही निमित्त की बात नहीं है कि कर्म जीव को रागरूप परिणामाता है, विकाररूप परिणामाता है, विकाररूप बनाता है, केवल इस ही ओर से निमित्तनैमित्तिक बात हो सो नहीं। दोनों ओर से निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की बात है। जब जीव परिणाम में शिथिलता होती है, ऐसी स्थिति में वे कर्म परिणाम प्रबल हो जाते हैं, उस समय जीव विषय

कषाय की ओर अधिक भागता है। जब जीव के परिणाम अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य में होते हैं तो कर्मपरिणाम अपने विपाक में शिथिल हो जाते हैं उनके संवर निर्जरा विशेष होने लगती है। यदि इन सब बातों को साहित्यिक ढंग से कहा जाय तो कहना चाहिए कि यह तो जीव और कर्म का परस्पर युद्ध जैसा है, क्योंकि निमित्तनैमित्तिक भाव दोनों ओर से है।

**आश्रयभूत के परिहार की व लक्ष्य में बढ़ने की प्रेरणा—** यहाँ कल्याण के अर्थ इस बात पर दृष्टि देनी है कि रागादिक विकार होते तो हैं कर्म का निमित्त पाकर, लेकिन उन विकारों के होने के लिए आश्रयभूत पदार्थ भी हुआ करते हैं। जैसे कोई प्रेम करता है तो उदय कर्म का है निमित्त, लेकिन पुत्र का, स्त्री का, पति का जिससे भी प्रेम हो रहा है वह आश्रयभूत भी तो है। जब यहाँ दो बातें ध्यान में लेते हैं तो विचार बनता है कि प्रयत्नपूर्वक पुरुषार्थ यह करना है कि आश्रयभूत पदार्थ का त्याग करें। यदि सर्व प्रकार से त्याग नहीं बन पाता तो एक देश त्याग करें, इसी आधार पर चरणानुयोग का संदेश है। आश्रयभूत तत्त्व बहुत दिन तक सम्पर्क में न रहेंगे, तो भले ही कुछ समय उसके संस्कार से चित्त वहाँ जाय, किन्तु जब आशा छूट जाती है बाह्यविषयों के साधन का त्याग करने से तो फिर रागविकार को पनपने का अवसर नहीं मिलता। दूसरी बात यह बनती है कि साधना की दिशा में हम आपको केवल एक लक्ष्य निर्णय करके बढ़ना है भाव में। निमित्त की ओर दृष्टि देकर हम साधना के पथ पर नहीं बढ़ सकेंगे। यह तो एक निर्णय की बात कही गई है कि जितने भी विकारभाव होते हैं वे किसी परनिमित्त का आश्रय पाकर होते हैं, परनिमित्त को लक्ष्य में दृष्टि में रख करके इस साधना में आगे नहीं बढ़ सकते। इस कारण हमारा लक्ष्य विशुद्ध और दृढ़ होना चाहिए।

**आत्मा के कल्याण लाभ के अवसर की चर्चा—** इस प्रसंग में एक जिज्ञासा यह भी बन सकती है कि चलो दोनों ओर से परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध रहा आवे अर्थात् जीव परिणाम का निमित्त पाकर कर्म में अवस्थायें बनती हैं और कर्म की अवस्थाओं का निमित्त पाकर जीव के भाव की अवस्थायें बनती हैं। भले ही उस तरह दोनों ओर का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध रहा, परन्तु बात तो प्रथम यह है कि कर्म जितना अवसर देंगे उतना ही तो जीव परिणाम निर्मल होगा, और फिर जितना कर्मोदय होगा उतना ही विभाव होगा और विभाव होने पर कर्मबन्ध होगा, फिर उसका उदय आने पर विभाव होगा। भला बतलाओ कि फिर जीव को मोक्ष का अवसर कैसे मिल पायगा? यह एक जिज्ञासा प्रायः लोगों के चित्त में रहती है, अथवा किसी का कोई एकान्त आग्रह हो तो इस प्रकार चर्चा की प्रकृति बन जाती है। इस जिज्ञासा के समाधान में यह समझना कि जीव क्या है और कर्म की स्थितियाँ किस प्रकार से बनती हैं? प्रथम बात यह है कि जीव ब्रह्म है। ब्रह्म उसे कहते हैं कि जिसके बढ़ने का स्वभाव हो, अपने गुणविकास में जो बढ़ने का, उत्कर्ष का स्वभाव रहता हो उसका नाम ब्रह्म है। देखिये जीव के अनेक नाम होते हैं। जीव, आत्मा, चेतन, ज्ञानी, ज्ञाता, प्रतिभासक आदि, पर उन नामों में एक-एक विशेषण से गुण की तारीफमात्र बतायी गई। लेकिन ब्रह्म शब्द

कुछ वहाँ और विशेषता बताता है कि इस जीव का बढ़ने का ही स्वभाव है। स्वभाव घटने का नहीं है। जैसे कभी देखा होगा कोई स्प्रिंग लगे हुए पलंग कुर्सी आदि में तो उसका विकसित होने का ही स्वभाव है, जब दबाओ दब सकते हैं, नहीं तो स्वतः विकसित होते हैं। लोग घरों में इस तरह के स्प्रिंग लगाते भी है। तो इसी प्रकार से समझ लो जीव के गुण के विकास होने का स्वभाव पड़ा हुआ है। जब कभी कुछ भी निमित्तदृष्टि से अवसर पायगा यह, बढ़ेगा और बढ़ाव में उसके बढ़ने का निमित्त पाकर कर्मदशा क्षीण हो जायगी। यह बात पहिले बता दी गई थी कि जब कर्मबंध होता है तो बंध के काल में ही स्थिति अनुभाव प्रकृति प्रदेश सब निश्चित हो जाते हैं। भले ही कभी जीवपरिणाम का विशेष निमित्त पाकर संक्रमण, अपकर्षण अथवा निर्जरण हो जाय तो भी जिस समय बंधन हुआ था उस समय तो बंटवारा हो ही गया था। पीछे जो हो वह भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध वाली बात है। तो जब जीव में बन्धे हुए कर्मों का उदय किसी क्षण इस प्रकार का आता है कि जिसे क्षयोपशमलब्धि कहेंगे तो क्षयोपशमिकलब्धि से विशुद्धलब्धि बनती है, विशुद्धलब्धि होने पर कर्मों में क्षीणता आती है और फिर यह जीव प्रबल विशुद्ध बन जाता है।

**स्वभावानुभूति का लाभ लेने में ही पटुता—** इस जीव को एक बार भी यदि अपने स्वभाव का अनुभव हो जाय तो फिर चाहे उसे कोई कितना ही विरोध में प्रेरित करे अथवा कितना ही तीव्रकर्म उदय में आये फिर भी अनुभव में आये हुए अन्तस्तत्त्व का स्मरण भी इस जीव को कभी न कभी सत्पथ में लगा देगा। बहुत बड़ा ऊँचा काम है यह कि सम्यक्त्व जग जाय और अपने आपके सहजस्वरूप की अनुभूति प्रकट हो जाय। काम ही एक है यह मनुष्यभव में। बाकी सब तो पागलपन की चेष्टायें समझ लीजिए। कभी यह उन्मत्तदशा तीव्र होती है तो यह तीव्र मोह में फंस जाता है। कभी उन्मत्तता की मंदता होती है तो कुछ चतुराई की बातें करता है, लेकिन उसकी ये सब उन्मत्त चेष्टायें हैं। चाहे मंदकषाय हो, चाहे तीव्रकषाय हो उसमें जो भी बात होगी वह सब मोहरागद्वेष की ही तो होती है। तो काम केवल एक ही है इस मनुष्यभव की सफलता का। कोई दूसरा काम नहीं है। अपने आपके आत्मा के सहजस्वरूप का श्रद्धान होना, ज्ञान होना और उसी स्वभाव में रमण होना, दृष्टि है, लक्ष्य बनाया, जानने में आ सकता है, अनुभव भी हो सकता है, पर समझ बने, उस ओर हमारी रुचि बने, ये सब बातें सम्भव हैं, सो भाई अपने आप पर दया करके, जरा इन बाह्य बातों की असारता का तो परिज्ञान कर ही लें। अगर करोड़पति भी हो गए तो उससे इस आत्मा को मिला क्या उस करोड़ों के ढेर से? कुछ फायदा हो तो सोच लीजिए। यदि लोक में इज्जत भी छा गई तो इस मोही लोक से मिलेगा क्या इस आत्मा को। और-और भी संसार के जितने सुख माने जाते हैं वे सुख भी इस जीव को प्राप्त हो गए तो इस आत्मा को मिला क्या? एक बार तो अपने आपके आत्मा पर दया करके शुद्ध हृदय से, शुद्ध ध्यान से यह निर्णय करके कि जगत में बाहरी बातों में रंच भी सार नहीं है। सबका लक्ष्य छोड़ दें, विकल्प छोड़ दें अपने को अकेला अनुभव करें और अपना उपयोग अवश्य अपने सहजस्वरूप में ले जायें

स्वयं ही ज्ञानप्रकाश का अनुभव होगा और समझ बन जायगी कि बस इस तरह से अपने आपको भीतर रख लेना, यही तो सार का काम है, बाकी बाहर में तो सब उन्मत्त की चेष्टा है।

**मोहोन्मत्तता में दुःखमयी चेष्टा—** जैसे कोई पुरुष पागल है, किसी कुवे के निकट बैठा है, जो सड़क के पास है वहाँ से अनेक मुसाफिर साइकिल, रिक्शा, ताँगा, मोटर आदि से गुजरते हैं, वह अड्डा ऐसा है कि वहाँ एक दो खाने पीने की चीजों की दुकानें भी हैं, तो लोग वहाँ उतरते हैं और कुछ नाश्ता पानी करके चले जाते हैं। अब वहाँ बैठा हुआ वह पागल पुरुष वहाँ खड़े हुए मोटर, साइकिल आदि को देखकर सोच लेता है कि ये मेरे हैं तो उन लोगों के चले जाने पर वह रोता है- हाय मेरी मोटर चली गई, मेरी साइकिल चली गई। तो इसी तरह यहाँ के इन पागलों की (मोहियों की) बात है, वे यहाँ के प्राप्त समागम (स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव आदिक) को अपना मान लेते हैं, लेकिन वे सब समागम बिछुड़ेंगे तो हैं ही, चाहे जब बिछुड़ें। तो यह मोही इन समागमों के बिछुड़ने पर रोता है, दुःखी होता है, हाय मेरा अमुक चला गया, मेरी अमुक चीज नष्ट हो गई। यों सोच-सोचकर वह रोता है और दुःखी होता है। अब कुछ अपने आपके स्वरूप पर दृष्टि देकर विचार लो, इस अपने आत्मस्वरूप का यहाँ है क्या? कुछ भी तो नहीं है। मान लो कोई सेठ अपने घर मरण करके अपने ही घर के कूप में मेंढक के रूप में पैदा हो जाय तो फिर उसका क्या रहा? और कदाचित् घर के लोग जान जायें कि यह मेंढक हमारे पति का जीव है या पिता का जीव है तो जान लेने के बाद भी क्या उस मेंढक से भी मोह होता है जैसा कि पहिले रहा करता था? नहीं। एक कथानक में कहते हैं कि एक सेठ जो जाप देने बैठा रात्रि को। उस समय चिराग जल रहा था। वह सेठ सोच रहा था कि करीब पौन घंटा तक यह चिराग जलेगा क्योंकि इसमें इतना तेल है सो यह नियम लेकर बैठा कि जब तक यह चिराग जलेगा तब तक मैं सामायिक में बैठा रहूँगा। सो वह सेठ तो सामायिक में बैठा हुआ था, उसकी स्त्री ने जब देखा कि चिराग बुझने वाला है तो उसमें कुछ तेल और डाल दिया। यों ही कई घंटे व्यतीत होते गए, जब भी वह दीपक बुझने लगे त्यों ही वह स्त्री तेल डाल देवे। सो कई घंटे तक सामायिक में बैठे रहकर उस सेठ को बड़ा संक्लेश हुआ और उस संक्लेश परिणाम में मरण करके वह अपने घर के कूप में मेंढक बना। जब उस सेठ की स्त्री उस कूप में पानी भरे तो वह मेंढक उस कूप से उछल उछलकर उस स्त्री के ऊपर आता था। तो उस स्त्री ने एक मुनि महाराज से उस मेंढक के विषय में पूछा तो मुनिराज ने बताया कि यह तो तुम्हारा पूर्वभव का पति है, वह मरकर मेंढक बना है। तो देखो यद्यपि उस स्त्री ने यह समझ लिया कि यह पूर्वभव का मेरे पति का जीव है पर उससे वह प्रेम तो नहीं कर सकती।

**आकिञ्चन्य की श्रद्धा बिना धर्मपालन की अपात्रता—** जीव का यहाँ कल्पना में भी कुछ नहीं है। यहाँ के समस्त समागम असार हैं। अगर यह बात चित्त में समा जाय तो समझो कि हम धर्म कर रहे हैं। अगर यह बात चित्त में नहीं समाती, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव आदिक समस्त समागमों को ही सारभूत समझ रहे

हैं, उन्हीं से अपना हित समझ रहे हैं तो भला बतलाओ आप कहाँ धर्म कर रहे हैं? जहाँ परपदार्थों के प्रति इतना लगाव है ऐसे हृदय में धर्म की गंध भी नहीं आ सकती। तो प्रथम शुरुआत यहाँ से करें कि जानने लग जायें सच्ची बात को कि ये बाहरी पदार्थ सारभूत नहीं हैं। जिन पर आज प्रीति है उनसे अगर मन बिगड़ जाय या आपके मन के प्रतिकूल कोई बात हो गई तो वे ही आपकी दृष्टि से गिर जाते हैं। आज जो मित्र है वह मित्र नहीं, कषाय की कषाय से दोस्ती है। जब कषाय से कषाय नहीं मिलती तो वही मित्रता शत्रुता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। तो इतना तो निर्णय कर ही लें कि बाहर में मेरा कोई कारणभूत नहीं है इतना निर्णय हो तब पवित्रता आयेगी अपने आपके ज्ञान की ओर अपने को मोक्षमार्ग में लगाने की।

**संसार की विपदामयता—** यह संसार तो सारा विपदामय है। यहाँ कोई स्थान ऐसा नहीं कि संसारी रहते हुए हम सुखी हो जायें। बताते हैं कि देव और इन्द्र बड़े सुखी है, मगर देव और इन्द्र भी अपनी देवियों के राग में कितना मस्त रहते हैं कि वे भी दुःखी रहते हैं अथवा दूसरे के ऋद्धि वैभव को जब वे निरखते हैं- हाय मुझे ऐसा वैभव क्यों न मिला, ये बड़े हैं, इनकी आज्ञा चलती है, मेरे पास तो इतनी ही विभूति है, यों तरस-तरस कर वे दुःखी होते हैं। यदि अज्ञानता के ढंग से निरखा जाय तो नारकियों को भी और देवों को भी दुःख है। नारकियों का दुःख जरा जल्दी मालूम होता है और देवों का दुःख स्पष्ट विदित नहीं होता। यदि दोनों का दुःख समझना है तो यही देख लो, करोड़पति को देखो और एक भिखारी को देखो- इन दोनों के दुःख की तुलना करो। क्या वहाँ यह कहा जा सकता कि करोड़पति को दुःख नहीं है, भिखारी को दुःख है? अरे यदि करोड़पति के घर जरा दस पाँच दिन रहकर देख लो- वे कितने अधिक दुःखी हैं। कहीं कोई मुकदमा चल रहा है, कहीं कोई नाराज हो रहा है, कहीं कोई धन हानि हो गई, यों उसके विह्वल होने के अनेक प्रसंग बने रहते हैं। यों ही विद्या पढ़े लिखे लोगों की बात है। वे भी वैसे ही दुःखी हैं जैसे कि मूर्ख (अनपढ़) लोग। सम्यज्ञानियों की बात और है। लौकिक विद्यावानों की बात कह रहे। जैसा दुःख विद्वानों को है। विद्वान् यों सोचता है कि कहीं हमारी इज्जत में धक्का न लग जाय, कहीं हमारे सम्मान में कमी न हो जाय। एक घटना है कि बनारस में एक बूढ़ा विद्वान् था। जो न्याय संस्कृत व्याकरण का प्रकाण्ड विद्वान् था। वह रात दिन उस वृद्धावस्था में भी अधिकाधिक समय अध्ययन किया करता था, कुछ न कुछ पाठ याद किया करता था। उसकी बड़ी प्रशंसा भी चारों ओर फैल रही थी। उससे एक बार किसी ने पूछा कि पंडित जी आप इतने विद्वान् हैं, आपकी सब जगह बड़ी कीर्ति फैली है, फिर भी आप रात दिन अध्ययनकार्य में ही क्यों व्यस्त रहा करते हैं? तो पंडित जी ने बताया कि हम इसलिए खूब अध्ययन करते रहते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि शास्त्रार्थ में हम कभी किसी से हार जायें। यदि कभी किसी से शास्त्रार्थ में हम हार गए तब तो हमारा जीना दुस्वार हो जायगा। आखिर हुआ भी ऐसा ही। कोई नवयुवक शास्त्रार्थ कर बैठा, सो पंडित जी तुरन्त उत्तर न दे सके। (बूढ़े हो जाने पर याददाश्त भी कम रहती है) सो लोगों ने समझ लिया कि यह हार

गए। बस उस दिन से फिर किसी ने उस पंडित को नहीं देखा याने वह किसी चेष्टा से मरण को प्राप्त हो गया। तो यह संसारी जीवों के दुःख की हालत बता रहे हैं। सभी दुःखी हैं। पुत्र वालों की हालत देख लो-जिनके अधिक पुत्र हैं वे भी उन लड़कों के लड़ाई झगड़े से परेशान रहा करते हैं, जिनके नहीं हैं वे लड़कों का मुख देखने के लिए रात दिन चिन्तित रहा करते हैं। किसी के अधिक लड़कियाँ हो गई तो वे रात दिन चिन्तित रहा करते हैं। इस दहेज के पीछे तो बहुत से केस बड़े बुरे हो जाते हैं। दहेज कम मिला तो जीवनभर सताते हैं व जीवन खत्म कर डालते है। तो यहाँ क्या है? सारा संसार दुःखमय हैं। किसी तरह से भी इस जीव को चैन नहीं मिलती। ऐसा विकट यह लोक है, फिर भी अधीर होने की बात नहीं है। अगर कोई इतना समझ ले कि सारा संसार दुःखमय है तो समझो कि उसे शान्ति का मार्ग अवश्य मिलेगा।

**संसार की दुःखरूपता के परिज्ञान से भी दुःखों में राहत मिलने का लाभ—** इस दुःखमय संसार में रहकर जो कुछ इस लौकिक सुख की चाह करते हैं उन्हें शान्ति का पथ नहीं मिलता। कोई एक सेठ था। वह एक बार कारागार में डाल दिया गया। अब वहाँ उसे कैद के बन्धन में रहना पड़ता था, सूखा रूखा खाना, जमीन में सोना, चक्की पीसना, पुलिस की मार सहना, आदि अनेक बातें करनी पड़ती थी। अब वह यही सोचता था कि मैं कहाँ तो इस तरह का सेठ और कहाँ इस तरह की कष्ट की बातें सहन करनी पड़ रही हैं, यों सोच सोचकर वह बड़ा दुःखी रहा करता था। उसको एक दिन एक दयालु कैदी ने जब समझाया कि अरे सेठजी यह कोई तुम्हारी ससुराल अथवा तुम्हारा घर नहीं है जो आराम से रहो। यहाँ तो ऐसा करना ही पड़ता है। जब सेठ को कुछ ज्ञान जगा, ओह ! यहाँ तो ऐसा करना ही पड़ता है, बस इतनी बात चित्त में जम जाने से उसके सारे दुःख हल्के हो गए। तो जैसे जेल में रहकर भी उसे जेल समझ कर रहने से उस सेठ के दुःखों का बोझ हल्का हो गया, इसी प्रकार हम आपका कर्तव्य है कि इस संसार को दुःखमय जानकर इसमें रहें तो इस समय भी दुःखों का बहुत कुछ भार हल्का हो जायगा। यहाँ रहकर एक अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर लें, यही एक सारभूत बात है, अन्य तो सब पागलपन की बातें हैं।

**संसारियों की परेशानी—** संसारी प्राणी अपने रागद्वेषमोह के कारण परेशान हैं। इनको किन्हीं बाहरी कारणों से परेशानी नहीं हो रही है। घर-घर में है, सोना चाँदी अपने-अपने कर्म हैं, किसी जीव को किसी दूसरे के कारण परेशानी नहीं है, किन्तु रागद्वेषमोह जैसे उत्पन्न होते हैं उनसे परेशानी है। लोग करते क्या हैं कि इन परेशानियों को मिटाने के लिए बाह्यपदार्थों का परिवर्तन करना चाहते हैं और जिस कारण से दुःख उत्पन्न होता है। उस पर दृष्टि नहीं। सुख दुःख देने वाला कोई दूसरा पुरुष नहीं है। अपने आपमें जो रागद्वेषमोह का परिणाम है वह ही दुःख का कारण है। यदि हम ऐसा प्रयत्न करें कि हमारे रागद्वेष मोह भाव न जगे, और बन जाय सच्चे ढंग से प्रयत्न तो वह सफल हो जायगा। और इस उपाय के अतिरिक्त बाहर में कुछ भी उपाय करें उससे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अब रागद्वेषमोह अपने दूर हों, इसके प्रयत्न में मुख्य

उपाय क्या है? तो उपाय है भेदविज्ञान। जैसे यह जीव यह विश्वास करके अपनी ओर झुक जावे कि ये रागद्वेषमोहादिक तो परभाव हैं, औपाधिक हैं, छायारूप हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं, ये तो दुःख देने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं, अशुचि स्वभाव हैं, ये गंदे हैं, इनसे क्या लगाव करना? मैं पवित्र ज्ञानस्वभावमात्र हूँ। जब इन परभावों से भिन्न अपने आपके स्वभाव पर आयगा तो इसके ये सब क्लेश दूर हो जायेंगे। प्राणी परेशानी दूर करने का भाव तो रखते हैं पर उसका यथार्थ उपाय नहीं बना पाते। परेशानी का अर्थ क्या है? यह परेशानी शब्द चाहे उर्दू भाषा का हो पर जरा हिन्दी संस्कृत में इसका अर्थ लेना चाहें तो परेशानी का अर्थ निकलता है पर ईशान सम्बन्धित परिणति। ईशान कहते हैं मालिक को, जिसने पर को अपना स्वामी माना हो, जो पर के अन्दर में अपने आपको समझ रहा हो या पर का अपने को मालिक मान रहा हो, बस उसकी परिणति का नाम है परेशानी। इससे अर्थ विदित होगा कि जितनी भी परेशानी है वह किसी दूसरे पदार्थ का अपने को स्वामी मान रहा हो उससे या अपना स्वामी किसी दूसरे को मान रहा हो, इससे परेशानी है। संसार के सारे संकट सदा के लिए नष्ट हो जायें ऐसा उपाय और ऐसी स्थिति से बढ़कर कुछ हो भी सकता है क्या?

**खुद की कृति से खुद की परेशानी**— लोक में ये जितने उपाय किए जा रहे हैं और उनसे शान्ति की आशा की जा रही है वह है क्या? जिन्दा मेंढक तौलने की तरह है। कोई जिन्दा मेंढक तौल सकता है क्या? नहीं तौल सकता। कुछ मेंढक तराजू पर रखे जायेंगे, कुछ रखने को होंगे कि वे उचक जायेंगे। ऐसे ही यहाँ की बातों का सुधार बिगाड़ करके कोई शान्ति चाहता हो तो हो सकता है क्या? जो बात बनेगी सो वह भी बन गयी अनुकूल उदय होने से, पर दो बातें बनेंगी और दो बिगड़ेंगी। कितने ही मनुष्य ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने अब से 10-20 वर्ष पहिले से ही सोच रखा हो कि इतना कार्य हो जाने पर फिर मुझे कोई परेशानी नहीं, फँसाव नहीं, किसी प्रकार की चिन्ता न रहेगी, फिर तो मैं सिर्फ धर्मकार्यों में ही अपना सारा समय बिताऊँगा, पर उतने वर्ष गुजर जाने पर भी क्या हाल होता है कि फँसाव ज्यों का त्यों बना रहता है। तो इसको फँसाने वाला कोई दूसरा है क्या? एक बार राजा जनक के दरबार में एक व्यक्ति पहुँचा, यह सोचकर कि वह ज्ञानी पुरुष हैं, वह हमें कोई ज्ञान की बात बतावेंगे। वह बेचारा व्यक्ति अपने घर में बहुत परेशान था। सो राजा जनक से बोला- महाराज मैं बड़ा दुःखी हूँ। कुटुम्ब ने मुझे जकड़ रखा है, घर गृहस्थी के सारे झगड़ों ने मुझे फाँस रखा है, मुझे वहाँ चैन नहीं मिलती है। उस झंझट से छूटने का आप हमें कोई उपाय बतावें। तो राजा जनक ने उत्तर तो कुछ न दिया, पर जिस पेड़ के नीचे बैठे हुए थे उस पेड़ को अपनी डोट में बाँध लिया, और बोले- हे भैया ! मैं इस समय बहुत परेशानी में हूँ। मुझे इस पेड़ ने जकड़ रखा है। पहिले इससे मुझे छुटाओ बाद में मैं तुम्हें उत्तर दूँ। तो वह व्यक्ति बोला- हे राजन् ! मैं तो आपके पास आपको ज्ञानी समझ कर आया था, पर आप तो इस समय बड़ी मूर्खता की बातें कर रहे हैं। अरे आपने



स्वयं इस पेड़ को जकड़ रखा है और आप कहते हैं कि पेड़ ने मुझे जकड़ रखा है। तो राजा जनक कहते हैं कि यही उत्तर तो तेरे लिए भी है। तूने स्वयं अपने को घर कुटुम्ब (गृहस्थी) के जंजाल में जान बूझकर फांस रखा है और कहता है कि घर कुटुम्ब ने मुझे जकड़ रखा है। यही तो तेरी मूर्खता है। अरे तू इस मोह को छोड़, बस तू तो आनन्दमय ही है।

**अन्तर्दृष्टि होने पर संकटों की समाप्ति—** कोई मनुष्य कितनी ही विकट परिस्थितियों में अपने को मान रहा हो, लेकिन जिस समय वह अपने आपको निराला अमूर्त ज्ञानमात्र निरख लेगा उस समय उसके सामने एक भी संकट न रहेगा। संकट भी है क्या? बस सोचने भर का संकट है ये सब संकट रागद्वेषमोह के हैं। हम आप सबको कार्य एक यही करना है, यदि बुद्धि पायी है तो उसका सदुपयोग यही है, कुछ ज्ञान विद्वत्ता पायी है तो उसका सदुपयोग यही है कि अपने आपके अन्दर गुप्त ही गुप्त अपने आत्मा का रस लेते रहें, अपने ज्ञानस्वभाव को अपनी दृष्टि में बनाये रहें और दृष्टि से अपने आपको पुष्ट बनाये रखें, यही एक काम हम आपको करने को बाकी है। बाकी बाहरी बातें जो भी हम आप पर गुजरती हैं तो गुजरने दें, उनसे हमारा कोई नुकसान नहीं है अथवा अन्य कुछ भी परिस्थितियाँ हम आपके सामने हों तो उनसे क्या नुकसान? लोक में कदाचित् कोई निन्दा करे, अपयश फैल रहा हो तो उससे हमारा क्या नुकसान? किसी भी प्रकार के उपद्रव आ रहे हों, कैसी ही विपदायें हम आप पर छा रही हों तो उनसे हमारा क्या नुकसान? यदि मैं अपने आपकी स्वरूपदृष्टि का अमृतपान कर रहा हूँ तो मैं अमर हूँ, मैं अपने आपमें प्रसन्न हूँ, निराकुल हूँ।

**परेशानियों के हटाने के अर्थ अध्यात्मतत्त्व का अवबोध—** जितनी भी परेशानियाँ हैं वे सब रागद्वेषमोह के परिणाम से हैं। जब रागपरिणाम होता है तो यह विह्वल होता है। उस रागपरिणाम की बात भी सोच समझ लें तो इससे लगाव हटेगा और अपने स्वभाव में पहुँच बनेगी। इस उद्देश्य को लेकर अध्यात्मशास्त्रों में यह सब वर्णन बताया गया है। रागपरिणाम होता किस तरह है? प्रकरण में यह बात विस्तार से समझायी गयी है। निष्कर्ष में आप यह बात समझिये कि जो रागद्वेष विकार होते हैं उनका निमित्त कर्मोदय है। उस कर्म के उदय के समय इस आत्मा में स्वयं अपने आपमें ऐसा प्रभाव बनता है कि वह रागरूप परिणमने को होता है। सो जिस समय यह रागरूप परिणमने को होता है तब उसके ज्ञान में कोई विषय बनता है। जिसको आश्रय करके यह रागपरिणाम उत्पन्न हुआ तो कारण यहाँ दो हुए राग परिणाम के- आश्रयभूत कारण और निमित्त कारण। निमित्त कारण कर्मोदय है और आश्रयभूत कारण स्त्री पुत्रादिक हैं या उन्हें विषयभूत कारण कह लीजिए। जिनके सम्बन्ध में राग जगा है। उन्होंने कुछ किया नहीं और वे निमित्त भी नहीं हैं, वे तो जो हैं सो हैं। साक्षात् समक्ष हों जो, न हों तो, उनको विषय बनाकर हमने अपने में राग परिणाम किया। तो यह जीव आसक्ति के समय में विषयभूत परद्रव्य के लक्ष्य में झुक जाता है। जो सर्वस्व है सो यह है, सो इन दो

कारणों के सम्बन्ध में यह अन्तर जानना कि विषयभूत कारण के साथ अन्वयव्यतिरेक नियम नहीं बैठता, और कर्मपरिणाम और जीवपरिणाम का निमित्तनैमित्तिक भाव का मेल बैठता है।

**मोहशल्य की निवृत्ति में ही लाभ—** पुष्पडाल और वारिषेण की कथा सुनी होगी। वारिषेण महाराज एक बार अपने गृहस्थकाल के मित्र पुष्पडाल के घर आहार करने गए। आहार के बाद पुष्पडाल उन्हें कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए साथ गए। आखिर दोनों बचपन के मित्र थे। तो जब गांव से 1 मील दूर निकल गए तो पुष्पडाल कहने लगे- देखो महाराज यह वही तालाब है जहाँ हम आप स्नान करने के लिए आया करते थे। कुछ और दूर जाने पर बोले- देखो महाराज यह वही नदी है जहाँ हम आप वनविहार के लिए आया करते थे। उनके कहने का अभिप्राय यह था कि महाराज अब यह कह दें कि हाँ अब तुम बड़ी दूर आ गए हो यहाँ से लौट जावो। पर वारिषेण महाराज ने पुष्पडाल को लौटने के लिए न कहा, बल्कि भद्रपरिणामी जानकर धर्मोपदेश दिया। आखिर 4-5 मील दूर जब जंगल में पहुँच गए तो भावुकता में आकर पुष्पडाल भी विरक्त हो गए। वह मुनि बनकर जंगल में रहने लगे। परन्तु जंगल में उन्हें याद आया- ओह अब न जाने मेरी स्त्री का क्या हाल हो रहा होगा? हम उससे कुछ कहकर भी नहीं आये। यों स्त्री का मोह उन्हें सताने लगा। बताते हैं कि वह स्त्री कानी भी थी। वारिषेण महाराज ने उसके मन की बात को समझकर पुष्पडाल के मोह को गलाने का उपाय रचा। वारिषेण ने अपनी माँ को खबर कर दी कि कल के दिन दोपहर बाद दो बजे हम घर आ रहे हैं, आप सभी रानियों को वस्त्राभूषण से सजाकर रखना। माँ ने सोचा कि ऐसी क्या बात हुई जो मेरे बेटे ने विरक्त होकर भी फिर घर जाने के लिए सोचा। सो माँ ने दो प्रकार के सिंहासन सजाये- एक सोने का और एक काष्ठ का। सोचा कि यदि मेरे बेटे को पुनः मोह उपजा होगा, कुबुद्धि आयी होगी तो सोने के सिंहासन पर बैठ जायेगा। परन्तु हुआ क्या कि जब वारिषेण महाराज आये तो काष्ठ के सिंहासन पर बैठे। वहाँ पुष्पडाल ने जो वारिषेण की सुन्दर रानियों को देखा तो उसका मोह गल गया, सोचा ओह ! इन्होंने ऐसी-ऐसी सुन्दर-सुन्दर रानियों को छोड़ा, पर मैं अपनी कानी स्त्री के प्रति ममता करके व्यर्थ ही दुःखी हो रहा हूँ। बस पुष्पडाल का मोह गल गया। यही तो करना था वारिषेण महाराज को। तो हम आप सभी को दुःख लगा है रागद्वेष मोह भाव का। परपदार्थ मेरे होते हैं नहीं। पर उनके प्रति व्यर्थ का राग लगा है। ये घर के स्त्री पुत्रादिक सब कुछ जंच रहे हैं, पर जगत के अन्य जीवों की भाँति ये सब भी मेरे से बिल्कुल निराले हैं। कीड़ा मकौड़ा पशु पक्षी वनस्पति आदिक जैसे ये सब हमसे निराले हैं उतने ही निराले ये घर में बसने वाले स्त्रीपुत्रादिक हैं, लेकिन मोह में ऐसा मानता कौन है और इसी मोह राग के कारण किसी भी क्षण स्वानुभूति नहीं जग पाती।

**सम्यग्ज्ञानोपयोग से परेशानियों की निवृत्ति—** लोक की इन सब परेशानियों को हटाना है तो इसका उपाय है भेदविज्ञान। भेदविज्ञान के बिना ये परेशानियाँ दूर न हो सकेंगी। ऐसा अभ्यास करें, जानें कि ये

रागादिक विकार मेरे विनाश के लिए आये हैं। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। यदि किसी पुरुष का कपट जान लें कि इसके मन में और हैं, वचन से कुछ और कहता है, मुझे इसकी बात में नहीं आना चाहिए। तो वह सावधान हो जाता है, पर इस बेकार की कपट की बात से सावधान नहीं हुआ जा रहा है। ये भले लग रहे हैं इस समय, इस विकार में मेरा परिणाम तन्मय हो रहा है, मुझे यही कल्याण जंच रहा है, मगर यह है बड़ा कपटी। इसका स्वभाव कुछ और, व्यक्त में यह कुछ और जंच रहा है। वह कपटी नहीं, वह तो बेचारा जड़भाव है। यह उपयोग ही कपटरूप बन रहा है, अपने आपकी संभाल नहीं कर पाता, सावधानी नहीं कर पाता, टेढ़ा बन रहा है, सरल नहीं बनता। तो करने का काम एक यही है चाहे गुप्त रहकर करें चाहे कैसे ही करें। यह कल्याण गुप्त ही होगा, प्रकट नहीं दिखता, और अपने ज्ञान में आयगा। अपना कल्याण भाव में बन रहा है तो वह कोई दूसरे को दिखाने की चीज नहीं है। इस तत्त्वज्ञान के जागृत किए बिना कल्याण न हो सकेगा। अनुभव करके देख लो- जिस समय आप सब पदार्थों को उन उनके स्वरूप में परिपूर्ण देख रहे हों, किसी का कुछ नहीं है। उस समय आपको शान्ति है, निराकुलता है, और ज्यों ही यह ऊधम में आया, परपदार्थों के लगाव में आया, किन्हीं भी बाह्यपदार्थों को चित्त में बसाया, बस सारे संकट सामने आ गए।

**आत्मा की परम अवस्था का दिग्दर्शन—** जीव की सबसे निकृष्ट अवस्था निगोद है और सबसे उत्कृष्ट अवस्था सिद्ध प्रभु की है। अरहंत भी उत्कृष्ट हैं, अरहंत और सिद्ध में केवल एक आघातिकर्म का अन्तर है, बाह्य अन्तर है। अन्तः विशुद्धि सर्वज्ञता परमात्मतत्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द, जिससे आगे और कोई बात नहीं, सर्वस्व दोनों में समान है। तो समझिये कि परमात्मतत्त्व तो सबसे उत्कृष्ट अवस्था है और निगोद सबसे निकृष्ट अवस्था है। परमात्म कहते ही उसे हैं जो परम आत्मा हो, उत्कृष्ट हो, आत्मा हो। तो कोई अनादि से ही उत्कृष्ट नहीं होता। जो अनादि से यथावत् है वह उत्कृष्ट क्या? वह तो जो है सो है। उत्कृष्ट तब कहलायेगा जब पहिले निकृष्ट हो, फिर उत्कृष्ट अवस्था पाई हो। तो जितने भी प्रभु हैं वे जीव जाति की दृष्टि से समान हैं, किन्तु उन्होंने भी पहिले निकृष्ट अवस्था में अपना समय व्यतीत किया। उपाय बना, भेदविज्ञान बना, स्वभावावलम्बन हुआ, दृढ़ता से इस और आये कि उन्होंने परमात्मस्वरूप का विकास कर लिया। तो उत्कृष्ट है यह परमात्मा की अवस्था। परम आत्मा सो परमात्मा। और परम का अर्थ क्या है? परा मा लक्ष्मी विद्यते यत्र सः परमः। जहाँ उत्कृष्ट लक्ष्मी हो उसे कहते हैं परम। लक्ष्मी के मायने क्या? लक्ष्म लक्षणं — जीवों का जो लक्षण है वह जीव की लक्ष्मी है। जीव का लक्षण है ज्ञान, सो ज्ञान ही लक्ष्मी है। बहुत दिनों तक तो ज्ञानयुग में लोग ज्ञानलक्ष्मी को मानते रहे और जब उसका बोध विशेष न रहा तो कुछ समय में कविजन जो ज्ञानलक्ष्मी का वर्णन करते थे चार वेद- प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग के रूप में, और कवि लोग वर्णन करते थे उस ज्ञानलक्ष्मी का कि इसका वाहन तो पवित्र आत्मा है हंसात्मा है। जैसे हंस पक्षी स्वच्छ है, उसकी उपमा देकर कहते वह भव्य आत्मा है, वहाँ ज्ञानलक्ष्मी का

निवास है, वहाँ रहती है ज्ञानलक्ष्मी। उस ज्ञानलक्ष्मी का स्थान क्या है, विस्तार क्या वह तो व्यापक है, सर्वत्र है। और जो विस्तृत हो उसे सरः कहते हैं, सरः प्रसरणं यस्या सा सरस्वती। तालाब व्यापक है। अनेक अलंकार चलते थे, तो लोगों ने जान लिया कि अब ज्ञानलक्ष्मी तो यह है, सरस्वती, सरः मायने तालाब। जहाँ निवास है, हंस जिसकी सवारी है, चार हाथ जिसके निकले हैं, वह क्या है? ज्ञानभाव का रूपक है वे चार अनुयोग जिनके हाथ हैं, भव्यरूपी हंस जिसका वाहन है, और जिस ज्ञान का फैलाव है वह सरः है, फैला हुआ है। लक्ष्मी नाम है ज्ञान का। जहाँ उत्कृष्ट ज्ञान विकसित हुआ हो उसे कहते हैं परम और परम आत्मा का नाम है परमात्मा? यही है उत्कृष्ट अवस्था।

**मोक्ष और मोक्षमार्ग के प्रोग्राम के लक्ष्य उपलक्ष्य की सारभूतता—** भैया ! सबके चित्त में कुछ न कुछ प्रोग्राम बना हुआ है कि मुझे यह करना है, मुझे यह करना है। अरे ये सब व्यर्थ के अनर्थ के, विपत्तियों के झंझट स्वप्नवत् कार्यों का ही प्रोग्राम लक्ष्य मान रखा है पर वे सब असार हैं। अपना एक प्रोग्राम यह बनावें कि मुझे तो परमात्मा होना है। मुझे ऐसा धनिक, ऐसा सदस्य, ऐसा मिनिस्टर आदि बनना है, इस प्रकार के जो प्रोग्राम बनाये जा रहे है इनमें तत्त्व नहीं है। धर्मदृष्टि से देखो- आज इस देश में इस जगह हैं तो यहाँ की ममता रखे हैं, दूसरे देशों के खिलाफ रहते हैं मगर कदाचित् मरण करके उन्हीं देशों में पैदा हो गए तब फिर इस देश के खिलाफ हो गए कि नहीं? तो यहाँ सार क्या निकला? यहाँ किसी भी पर का विश्वास नहीं है। मेरा तो प्रोग्राम मुक्ति का है। मोक्ष का प्रोग्राम बनाइये। मोक्ष मायने केवल हो जाना अर्थात् जो मैं केवल अपने आपमें सहज हूँ बस वही हो जाना यही कहलाता है मोक्ष। बस प्रोग्राम हो तो केवल होने का बनाइये। केवल होने का प्रोग्राम तब ही बन सकेगा जब इस समय अपने आपको केवल लख लिया जाय। मैं सबसे निराला केवल हूँ, सहजज्ञान हूँ, ये रागादिक भाव जो कि दुःख देने के लिए ही प्रकट हुए हैं, मुझे संसार में रूलाने के लिए ही प्रकट हुए है, जिनकी प्रकृति केवल क्लेश की हैं, जो स्वयं दुःखस्वरूप हैं, उनमें कुछ लगाव न होगा। मैं अपने आपके स्वरूप में रहूँगा, ऐसा भीतर संकल्प तो बने, भाव तो बने ऐसा। यह बात तब ही बनेगी जब हम ठीक-ठीक निर्णय रखेंगे कि ये रागादिक भाव, औपाधिक हैं, विभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं।

**बाह्यपदार्थ से लगाव हटाकर स्वभावोपयोग करने में कल्याण—** कोई पुरुष जब तक किसी लाग-लगाव में नहीं हैं तब तक उसकी अवस्था दिखेगी आनन्दरूप और अवस्था बढ़ने के कारण या किसी भी निमित्त पर हमने यदि कुछ लाग-लगाव कर लिया तो उस दिन से हमें बेचैनी बन जायगी। यही सर्वत्र देख लो। एक सेठ का पडौसी बढ़ई था। जो कि दो तीन रुपये रोज कमाता था और उनसे खा पीकर खुश रहा करता था। प्रतिदिन अच्छा भोजन करता था। और सेठ की क्या हालत थी कि प्रतिदिन साधारण भोजन करता था। तो एक दिन सेठानी बोली कि देखो- अपना पडौसी बढ़ई तो बड़ा गरीब होने पर भी खूब अच्छा खाता-पीता और

खुश रहता है और आप इतना अधिक होकर भी साधारण खान-पान रखते हैं, इसका क्या कारण है? तो सेठ बोला कि तुम नहीं जानती हो सेठानी, अभी यह 99 के चक्कर में नहीं पड़ा है। जब 99 के चक्कर में पड़ जायगा तो इसकी भी यही हालत होगी। सो सेठ ने एक दिन शाम को उस बढई के घर 99 रु. की थैली फेंक दी। बढई ने जब आँगन में रुपयों की थैली पायी तो बड़ा खुश हुआ। जब गिनने लगा तो वे कुल 99 रु. निकले। सोचा कि इनमें यदि एक रुपया कम न होता तो मैं शतपति कहलाता। उसने दूसरे दिन अपनी दो रुपये की कमाई में 1 रु. तो थैली में डालकर 100) पूरे कर दिये और 1) का रोटी साग खाकर काम चला लिया। जब 100) उसके पास हो गए तो सोचा कि 100) तो अमुक के पास भी हैं पर वह सुखी नहीं है। हजार रुपये होने चाहिए। आखिर हजार रुपये जोड़ने के चक्कर में पड़ गया। रूखा-सूखा, खान-पान घर में रखा। अब सेठ अपनी सेठानी से कहता है, देख लो अब बढई की हालत। मैं कहता था ना कि अभी यह 99 के चक्कर में नहीं पड़ा। तो जो व्यक्ति अपने जीवन को विवेक के साथ बिताना चाहते हों उनका कर्तव्य है कि वे अपने हित के पंथ में चलें। जो अहित की बातें हैं उनसे दूर रहें, इससे उनके जीवन की सफलता है। और अहित विषयकषायों में लगकर अगर जिन्दगी गुजर गई तो इससे जन्ममरण की परम्परा ही चलती रहेगी। आज हम आप मनुष्यभव में हैं तो क्या हुआ? अगर यहाँ से मरकर पशु पक्षी बन गए तो फिर वहाँ क्या करना होगा? इससे इस मानवजीवन का सदुपयोग कर लेना चाहिए और ज्ञान की उपासना में अपना समय लगाना चाहिए। जब कभी भी किसी भी परिस्थिति में घबड़ाकर, झुंझलाकर या पथ न दिखने के कारण किसी भी परिस्थिति में भीतर यह आवाज निकले कि क्या करना चाहिये? अब तो इसका सही एकमात्र प्रधान उत्तर यही है कि एक ज्ञानमात्र का आलम्बन लेना चाहिये।

**आनन्दलाभ के यत्न का विचार—** आत्मा का हित आनन्द है। प्रत्येक प्राणी चाहता तो आनन्द ही है, पर यह मोही प्राणी आनन्द का सही उपाय न बना सका और न सत्य आनन्द पा सका। प्रथम तो आनन्द का स्वरूप ही वह नहीं जान रहा। सांसारिक सुखों को ही वह आनन्द समझता है, किन्तु जैसे सांसारिक दुःखों में क्षोभ भरा हुआ है उसी प्रकार सांसारिक सुखों में भी क्षोभ बसा हुआ है। क्षोभरूप होने के कारण दुःख भी हेय है और सुख भी हेय है। किन्तु आनन्द एक ऐसी अवस्था है कि जहाँ क्षोभ नहीं है। आनन्द कहते ही उसे हैं कि जिसमें वह आत्मा सर्व ओर से समृद्धशाली बन जाय। दुनदि समृद्धौ धातु से नन्द बना है और उसमें आ उपसर्ग लगा है जिसकी उपपत्ति आ समन्तात् नन्दनं आनन्दः, सर्व ओर से आत्मा समृद्धशाली हो ऐसी स्थिति को आनन्द कहते हैं। वहाँ क्षोभ नहीं, सर्वकल्याण है, उस आनन्द को पाने की जिसकी इच्छा रुचि हो जाती है वह निश्चित भव्य है। वह आनन्द मिले कैसे, उसके लिए आनन्द का स्वरूप और जिसे आनन्द देना है, जो आनन्द पायेगा उसका स्वरूप ज्ञान में होना चाहिए।

**आनन्द चाहने वाले के स्वरूप का निर्णय—** जो आनन्द चाहता है वह है यह मैं, स्वयं को स्वयं के स्वरूप का बोध होना चाहिए। पहिले तो यहाँ यह निर्णय करो कि मैं हूँ, अस्तित्व जानो। निर्वाध अर्थक्रियाकारी अस्तित्व को सिद्ध करने वाले साधारण गुण 6 होते हैं जिनसे प्रत्येक पदार्थ की सत्ता निश्चित होती है सही ढंग में- अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व। अस्तित्व के कारण तो यह निश्चित हुआ कि मैं हूँ और वस्तुत्व से यह निर्णय हुआ कि मैं अपने स्वरूप से हूँ, परस्वरूप से नहीं हूँ। द्रव्यत्व शक्ति से यह जाना कि मैं निरन्तर परिणमता रहता हूँ। न परिणमूँ तो मेरी सत्ता ही न रहेगी। अगुरुलघुत्व में यह समझा कि मैं अपने ही स्वरूप में परिणमता हूँ, अपने ही परिणमन से परिणमता हूँ, दूसरे के स्वरूप नहीं परिणम जाता, इतना एक साधारण बोध होने पर अभी कुछ सामने कोई चीज सी नहीं ऐसी नजर आयी, बात बात सी रह गई तो प्रदेशत्व गुण के बोध से यह बोध हुआ कि मैं प्रदेशवान हूँ, स्वयं अपने प्रदेश में हूँ, और प्रमेयत्व गुण के बोध से जाना- यह मैं प्रमेय हूँ, यों 6 साधारण गुणों से सत् का निर्णय हुआ, लेकिन किसी पदार्थ में 6 साधारणगुण ही हों तो वह पदार्थ की नहीं रह सकता असाधारण गुण होना प्रत्येक पदार्थ में आवश्यक है। इन 6 साधारण गुणों से तो सामान्य बात बताई गई, जो असाधारणगुण के साथ ही मिलकर पनपेगी, तो मुझमें असाधारणगुण हैं चेतन, ज्ञानदर्शन, जानना, देखना। मेरे में स्वरूप है जानना और देखना, स्वरूप अपना अपने आनन्द के लिए ही है।

**सहजप्रभु के मिलन व बिछोह की स्थिति का प्रभाव—** मेरा जो सहजस्वरूप है सत्य अर्थात् अपने आप अपनी सत्ता सत्ता के कारण स्वयं स्वभाव में जो बात है वह स्वयं के बिगाड़ के लिए नहीं हुआ करती, लेकिन दिख रहा है कि हम आपमें अनेक क्षोभ तो मचा करते हैं। तो इस क्षोभ को समझना चाहिए कि यह मेरे स्वरूप की चीज नहीं, मेरे स्वभाव की वस्तु नहीं, किन्तु होते मुझमें हैं, यह बात अवश्य है, सो ये विभाव हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं, परकर्मोदय का सन्निधान पाकर उत्पन्न हुए हैं, मेरे सहजस्वरूप में नहीं हैं, अतएव ये परभाव हैं। मैं इनसे निराला ही स्वरूप रख रहा हूँ। उस ज्ञानस्वभाव की दृष्टि बने तो आत्मा की पहिचान यथार्थतया होगी। और जिस किसी भी उपाय से करना यही है कि मैं अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव में लूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ, बस जानन होता है यह परिणमन कर्तृत्व है, यह परिणमन भोक्तृत्व है। इसी का ही करना होता है इसी का ही भोगना होता है, ऐसा अपने आपमें अंतःस्वरूपमात्र अनुभव जगे तो यह ही एक श्रेय है यही कल्याण का रूप है, इस बात की प्राप्ति कैसे हो? तो साक्षात् बात तो यह है कि इस ज्ञान के द्वारा ही इस ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। ज्ञान पाया जायगा तो ज्ञान में ही ज्ञान द्वारा पाया जायगा, यह अन्तस्तत्त्व किसी क्रियाकलाप द्वारा नहीं पाया जायगा। अन्य क्रियाकलाप, बाह्यचरित्र ये सब उस स्थिति में साधन बन गए कि जिन स्थितियों में विषयकषायों के अंकुर, संस्कार वासना सता सकती है। उन स्थितियों में यह जीव अशक्त है तो वह क्या उपाय करे? करता तो है ही कुछ। अन्य-अन्यरूप प्रवृत्ति करने लगेगा, ऐसी स्थितियों

में ये सब हमारे बाह्यसाधन है। पर ज्ञान की अनुभूति, ज्ञान की प्राप्ति तो इस ज्ञानपरिणति द्वारा होगी। इस ज्ञानस्वरूप को जो नहीं समझते हैं ऐसे पुरुष नाना प्रकार की क्रियायें भी करें तब भी वे मोक्ष का मार्ग नहीं पाते। तथ्य तो समझना ही पड़ेगा कि मेरी अंतःपरमार्थ स्थिति क्या है और आनन्द किस स्थिति में है?

**अन्तःअंधेरा और उजेला—** मैं परमार्थ क्या हूँ और आनन्द किस स्थिति में है- इन दो बातों का बोध नहीं हो यदि सारा अंधेरा ही अंधेरा है, फिर तो कोई भी यत्न किए जायें उन यत्नों से इस आनन्दमय श्रेयस्वरूप सहजपरमात्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। जिन्होंने अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान इस सहजज्ञानस्वरूप की उपलब्धि की, उनका यह निर्णय हो गया है कि रमण करने योग्य यह ही स्थिति है। जगत के बाह्यसाधन, बाह्यस्थितियाँ ये रमण करने योग्य नहीं हैं। सब असार हैं। परिजनों का समागम मिला है तो यह भी क्या है? अंधेरा है इसमें लगे तो यह पूरा अंधकार है। कहाँ तो यह एकाकी स्वतंत्र अपने ही सत्त्व में रहने वाला ऐसा निराला पदार्थ और यह अपना उपयोग ऐसा ही निराला अन्तःस्वरूप में लखे तो इसका उद्धार था, मगर व्यर्थ ही परिजनों के लगाव में लग रहा है और ऐसे लगाव में चल रहा है यह कातर प्राणी कि तन, मन, धन, वचन सर्वस्व प्राण इन्हीं के लिए इसके विकल्प में बन रहे हैं। अन्य है मेरा कौन इस लोक में? मेरी इज्जत इस परिवार से है, इस वैभव से है, मेरी पूछताछ मेरी प्रतिष्ठा इस परिवार और वैभव से है। इस प्रकार का अज्ञान-अंधेरा छा गया है और इस अंधेरे में वह ज्योति नहीं नजर आती, अन्तःस्वरूप नहीं दृष्टिगत होता, न उसमें रमण हो पाता। जिन्होंने इस ज्ञान का ज्ञान द्वारा अनुभव किया है उनका यह निर्णय है कि इतनी ही स्थितियाँ स्वयं है जितना की यह ज्ञान है। ज्ञानमात्र, उसमें ही नित्य रति रखना चाहिए। यही सत्य आशीर्वाद है, कल्याण है जितना कि यह ज्ञान है। इस ज्ञान में ज्ञानोपयोग रखकर हमें सन्तुष्ट रहना चाहिए। असन्तोष की जरा भी बात नहीं है। कोई उपद्रव ही नहीं, कोई कष्ट ही नहीं, कोई कुछ कर ही नहीं सकता। मैं ही अपने ज्ञान से चिगकर दुःखी हो रहा हूँ। मैं अपने को ज्ञानमात्र स्वरूप में निश्चित करूँ और इस ही ज्ञानमात्र स्वरूप में अपने को उपयुक्त रखूँ तो वहाँ एक भी उपद्रव नहीं है। सर्वोत्कृष्ट बात यदि कुछ है तो यह ज्ञानभाव है, यह ज्ञानस्वरूप।

**प्रियतमता का निर्णय—** जगत के अज्ञ प्राणी तो मानते हैं कि ये प्रिय हैं, मगर उनकी प्रियता तो बदलती रहती है, 6 महीने के बच्चे को माँ की गोद प्यारी है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इस जीव को सर्वप्रिय माँ की गोद है। जब वह 4-5 वर्ष का हो जाता तो उसे माँ की गोद प्यारी नहीं रहती, उसे तो खेल खिलौने प्रिय हो जाते हैं, कुछ और बड़ा होने पर खेल खिलौने भी उसे प्रिय नहीं रहते उसे तो पढ़ना लिखना प्रिय हो जाता है, कुछ और बड़ा होने पर डिग्री प्रिय हो जाती है, पढ़ने लिखने से मतलब नहीं, फिर तो जिस किसी भी प्रकार हो डिग्री मिलनी चाहिए, बाद में कुछ और बड़ा होने पर डिग्री भी प्रिय नहीं रहती, उसे स्त्री प्रिय हो जाती है, कुछ और बड़ा होने पर दो चार बच्चे हो जाने पर फिर स्त्री भी प्रिय नहीं रहती,

बच्चे प्रिय हो जाते हैं। फिर बच्चे भी प्रिय नहीं रहते, धन प्रिय हो जाता है। और मान लो कदाचित् घर में आग लग गई, परिजनों को निकाला, कोई एक बच्चा घर के अन्दर रह गया, आग तेज बढ़ गई, स्वयं न निकाल सका तो दूसरों से कहता है, भैया ! मेरे बच्चे को निकाल दो, हम तुम्हें 10 हजार रुपये देंगे। अब देखिये उसे अपने प्राण प्यारे हो गये। जो चीजें अभी तक प्रिय थीं वे सब अप्रिय हो गयीं। उसे एक अपनी जान प्यारी हो गई, और वही पुरुष जब विरक्त होता है, आत्मध्यान में रत होता है तो ऐसे योगी को कोई जंगली जानवर सिंहादिक क्रूर पशु भक्षण भी करें, कोई शत्रु आकर हमला करे तो उस पर भी वे ध्यान नहीं देते। वे तो उस घोर उपसर्ग के समय अपने ज्ञान की रक्षा करते हैं। वे योगिराज जानते हैं कि मेरा यह ज्ञान जो कि मेरे अनुभव में आ रहा है, जो निर्विकल्प, क्षोभरहित सत्य है, कल्याणमय है, मेरा जो स्वरूप है, इस ज्ञानधारा से मैं विचलित न होऊँ, बस उसे यह ज्ञान प्रिय हो गया है। अब उसे अपनी जान भी प्रिय नहीं। जान जा रही हो तो उसकी ओर वे रंच भी विकल्प नहीं करते। वे जानते हैं कि इस समय इस ज्ञानधारा के प्रवाह से मैं विचलित हो गया तो मेरा सारा भविष्य बिगड़ जायगा, मेरा सारा बिगाड़ हो जायगा। जैसे एक कहावत है कि गोद को छोड़कर पेट की आशा करना। जो ज्ञानधारा चल रही है, जो महान् आनन्द प्राप्त हो रहा है उससे यदि मैं चिग गया तो फिर उसका परिणाम क्या होगा? यह ज्ञान कोई सारभूत चीज नहीं है। तो आखिर अब क्या प्रिय हो गया? अब उसे प्रिय हो गया ज्ञान। इस ज्ञान के बाद अब बताओ ऐसी कौन-सी स्थिति है जिसे देखकर यह कहा जाय कि वह चीज तो प्रिय हो गई और यह ज्ञान अप्रिय हो गया? ऐसी कोई स्थिति नहीं है। तो ऐसा यह ज्ञानमात्रस्वरूप यह ही सत्य है, यह ही अनुभवनीय है, ऐसा जानकर इस ज्ञानमात्र द्वारा ही तृप्ति को प्राप्त करें। इस ही में वह सत्य आनन्द है। जिस आनन्द का अध्यात्मवाद में लक्ष्य किया जाता है।

**ज्ञानी के सत्य स्ववैभव का दृढतम निर्णय—** ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरा ज्ञान ही धन है, और जो ज्ञान है वही मैं हूँ। जो जिसका स्वभाव है वही उसका सर्वस्व है और वही उसका स्व है, वह उस स्व का स्वामी है। अब आत्मा का क्या रहा? केवल यह मैं आत्मा। आत्मा क्या? यही ज्ञानस्वरूप। मेरा वैभव है ज्ञानस्वरूप, मेरे सब परिजन हैं ज्ञानस्वरूप। मेरी प्रतिष्ठा है यह ज्ञानस्वरूप। सदा के लिए जन्ममरण के संकट से छूट जाऊँ, समस्त झंझटों से रहित हो जाऊँ, ज्ञान में ही ज्ञान का अनुभव बना रहे, इससे भी बढ़कर हमारी कोई प्रतिष्ठा है क्या? यह लौकिक प्रतिष्ठा तो क्षोभ से भरी हुई है और अकल्याण का हेतुभूत है। यहाँ कहाँ क्या सार है? इस संसार में प्रलोभन बहुत है और इस ज्ञान के प्रकरण में वह जानना कि ज्ञान ही सत्य है, ज्ञान ही सर्ववैभव है, उस ज्ञान की ही जिसकी धुन लगी है ऐसे ज्ञानी के लिए ये भी सारे प्रलोभनों में नहीं आते। मेरी लोक में प्रतिष्ठा बने, बहुत से लोग मेरे जानकार बनें, इस तरह के कोई प्रलोभन इस ज्ञानी पुरुष के नहीं आते। उसे तो अपना ज्ञान ही प्रिय है, ज्ञान की धुन ही उसे प्रिय है। वह



अपना परिग्रह अपने आपको जानता है। तब ये सारे परद्रव्य यह शरीर भी, ये रागादिक विकार भी ये मैं नहीं हूँ। अपने उस स्वरूप को लिया है इस ज्ञानी ने जो इसका सहज है, अनादि अनन्त है। यद्यपि उस स्वरूप के आवरण अनेक हो गए हैं, लेकिन ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि से ज्ञानी ने अपने उस स्वरूप को लक्ष्य में लिया है। बीच में आने वाले आवरणों को भी पार करके वह उस दृष्टि से अन्दर स्वरूप पर पहुँचता है। जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला कैमरा, खून, माँस, मज्जा आदि को छोड़ देता है, उनका फोटो न लेकर केवल हड्डी का फोटो ले लेता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञान दृष्टि के द्वारा पञ्चेन्द्रिय, कषायभाव, रागादिक विकार इन सबको पार करके सूक्ष्मशरीर, कार्माणवर्गणायें इन सभी को पार करके, किसी से भी न भिड़ करके किसी से भी प्रतिहत न होकर अपने अन्तःस्वरूप का ग्रहण कर रहा है। उसका निर्णय है कि मेरा परिग्रह तो यह मैं आत्मस्वरूप ही हूँ। ये कोई परद्रव्य मेरे परिग्रह नहीं। इन्हें मैं अपने ज्ञान में आत्मसात नहीं कर रहा। यदि मैं किसी भी बाह्यपदार्थ का आत्मसात करूँ, अपना मानूँ, उन्हें मैं अंगीकार करूँ तो समझिये कि जो जिसका होता है वह उस रूप हुआ करता है, यही वास्तविकता है। तब मैं अगर किसी जीव या अजीव का बनूँ या कोई जीव अथवा अजीव मेरा बने तो इसका अर्थ है कि मैं भी अजीव हो गया। (यहाँ तत्त्व को निरखा जा रहा है) कहीं मैं अजीव नहीं हो गया, पर वास्तविकता यह है कि जो परमार्थतः जिसका है वह उस समय है। तो मेरा अगर कोई यह लौकिक परिग्रह है तो मैं अजीव बन जाऊँगा। मैं अजीव नहीं हूँ। अजीव का जो स्वामी है वह वही अजीव है। मेरा तो एक ज्ञायकस्वरूप है।

**सहज अन्तस्तत्त्व का सुगम निर्णय—** यहाँ भीतर अमूर्त रूप, रस, गंध, स्पर्श के रहित एक ज्ञानभाव को दृष्टि में लिया जा रहा है। यह कठिन बात यों कहीं कि हम जान तो रहे हैं कि जानना भी कोई तत्त्व है, जानना भी तो कोई वस्तु है। जान रहे हैं और उस जानने को ही नहीं प्राप्त कर पाते, असत् नहीं, कथनमात्र की बात नहीं, जाननरूप अर्थ क्रिया हम आप पर गुजर रही कि नहीं? कुछ जान रहे, कुछ समझ रहे, यह बात हम पर बीत रही कि नहीं? तो जो जानन हम आप पर बीत रहा है, जानन अर्थ क्रिया चल रही है उस जानन का ही तो बोध करना है कि वह क्या वस्तु है? वह जानन अमूर्त है, ज्योतिमात्र है, निराधार नहीं आधार है, प्रदेशवान है आदिक। यह मैं देह से निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ, यह निर्णय करना ही होगा अन्यथा अंधेरे में ही रहना होगा और अन्तःक्रिया की ओर से देखो तो यह मैं अन्तः बस परिणमन कर रहा हूँ ना, वह तो द्रव्यगुण की बात है, परिणम रहा हूँ और हूँ ज्ञानमात्र, उसमें कंकड़ पत्थर जैसा कोई पिण्डरूप नहीं मालूम हो रहा। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ तो इस मुझ का अन्तःपरिणमन भी क्या है? कोई ज्ञानमात्र का, जिस ढंग से हो सकता है उसी ढंग में परिणमन चलेगा। वह जानन करतूत मेरी और वही अनुभवन सही है भोगना मेरा, ऐसा यह ज्ञानी अपने आत्मा को अन्तः निरख रहा है, यह धारा बने, ज्ञान की दृष्टि निरन्तर रहे, ऐसी उसकी रुचि है। बाह्य पदार्थ अगर कहीं जाते हैं, छिदते हैं, भिदते हैं, कुछ होता है, उनका असर इस

पर तो कुछ भी न होना चाहिए। क्यों हो? जब भिन्न पदार्थ हैं, किसी जगह कोई मकान गिर गया तो क्या यहाँ भी गिर जाना चाहिये। बाह्य पदार्थों में कुछ से कुछ हो गया, छिद गया, भिद गया, तो क्या यहाँ भी उससे कुछ गड़बड़ हो जाना चाहिए? हो बाहर में जो कुछ होता हो, मेरा उन परपदार्थों में कुछ लगाव नहीं, क्योंकि मैं अन्तः ज्ञानमात्र हूँ। यों ज्ञानस्वरूप का निर्णय करने वाला आत्मा भव्य जीव उस आनन्द का लाभ करता है। जो आनन्द वास्तविक है, स्वाधीन है, सत्य है, स्वभाव की चीज है, जो परम कल्याण रूप है, उत्कृष्ट है, ऐसे आनन्द लाभ के लिए आत्मा के परमार्थभूत स्वरूप के ज्ञान की आवश्यकता है, इसके ही लाभ में इन जीवनक्षणों की सफलता है।

॥अध्यात्मसहस्री प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त॥